हिन्दी-भूषण-निबंधमाला

श्री शम्भूदयाल सक्सेना

Shamboo Dayal Saksena

हिन्दी भवन, लाहौर

हिन्दी-भूषण-निबंधमाला

विगत कई सालों के 'हिन्दी-भूषण' परीक्षा में आए हुए लगभग ४५ निबन्धों तथा लगभग ४० अन्य निबन्धों के खाकों और अभ्यासार्थं कुछ निबन्ध-शीर्षकों सहित निबन्ध-रचना पर अनूठी पुस्तक

लेखक

चित्रपट, बंदनवार, बहूरानी, अमरलता, भिखारिन आदि के रचयिता

श्री शंभुदयाल सक्सेना, साहित्यरत्न,

सेठिया कालेज, बीकानेर

प्रकाशक

हिन्दी-भवन

अनारकली, लाहौर

तीसरा संस्करण] १९३९ मूल्य १।)

Printed & Published by D. C. Narang
at the H B. Press, Lahore.

निवेदन

निबन्ध-रचना पर हिन्दी में कई पुस्तकें मौजूद हैं। उनके होते हुए भी इस पुस्तक की रचना का कारण यह है, कि यह उच्च श्रेणी के विद्यार्थियों की आवश्यकता को लक्ष्य में रखकर लिखी गई है। अब तक 'हिन्दी-भूषण' परीक्षा में निबन्धों के जो विषय आ चुके हैं, उन्हीं को हमने आदर्शरूप से लिख कर विद्यार्थियों के सामने रखने का प्रयास किया है। किन्तु निबंध लिखते समय स्कूलों की उच्च परीक्षा, इंटरमीडिएट, प्रभाकर तथा साहित्य-सम्मेलन की मध्यमा-परीक्षा के विद्यार्थियों का भी ध्यान रक्खा गया है, इसी से लेखों का विस्तार कुछ अधिक हो गया है और विषय का विवेचन भी कुछ गहराई के साथ किया गया है। हमें आशा है कि यह पुस्तक जिनके लिए लिखी गई है, उन्हें निबन्ध-रचना का थोड़ा-बहुत ज्ञान करा सकेगी।

इसके लिखने में कितनी ही पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं से सहायता लेनी पड़ी है, जिनके लेखकों के हम विशेष रूप से कृतज्ञ हैं। अन्त में श्रीयुत तारानाथ जी रावल विशारद को भी धन्यवाद देना है जिनसे हमें कई निबन्ध इस पुस्तक के लिए प्राप्त हुए हैं, यथास्थान उनका नाम दिया गया है।

—लेखक

विषय-सूची

निबन्ध-रचना

मनोभावों के प्रकाशन की प्रवृत्ति मनुष्य-मात्र में पाई जाती है। आरंभिक अवस्था में यह प्रवृत्ति इशारों और संकेतों तक ही रहती है। धीरे-धीरे इसे वाणी का आधार प्राप्त होता है, पर इसमें परिपूर्णता और प्रौढ़ता तब तक नहीं आती जब तक लिपि का अवलंब न मिले। यों तो इशारों तथा संकेतों और बोलने तथा लिखने का प्रयोजन एक ही होता है, सब यही चाहते हैं कि हमारे मन की बात का आशय जैसे का तैसा दूसरों के द्वारा समझा जा सके। चित्र, शिल्प और संगीत आदि ललित-कलाओं में भी यही प्रवृत्ति काम कर रही है। वहाँ भी अपने मनोभावों को दूसरों तक पहुँचाना ही इष्ट है। फिर भी सबका काम और सबका प्रभाव पृथक्-पृथक् है। इशारों और संकेतों के क्षेत्र में व्यापकता नहीं है। कोई कितने इशारे कर सकता है? कोई कितने इशारे समझ सकता है? इनकी दुनियाँ बहुत छोटी है। इनके भाव-प्रकाशन का क्षेत्र बहुत संकीर्ण है। फलतः इनका प्रभाव भी उसी प्रकार सीमित है।

वार्तालाप इसका अगला और सफल क़दम है। वार्तालाप की अवस्था को प्राप्त करके मनुष्य मानो कुएँ से निकल कर संसार में आ गया है। उसके भाव-प्रकाशन का क्षेत्र भी उसी कदर विशाल हो गया है। तो भी लिखने और बोलने में अन्तर रहता ही है। बोलते और वक्तृता देते समय विचार का पूरा अवसर नहीं मिलता; फिर भी बोल-चाल और वक्तृता का असर पड़े बिना

नहीं रहता। इसका कारण यही है कि वक्ता श्रोता के सामने रहता है, इसलिए अपनी वाणी के साथ-साथ इंगित, इशारों और हाव-भाव को भी काम में ला सकता है। लेखक को यह सुविधा प्राप्त नहीं होती, पर उसे बड़ी सुविधा यह होती है कि वह विचार और चिन्तन करने के लिए स्वतन्त्र रहता है। इस सहूलियत का जहाँ वह लाभ उठाता है, वहाँ उसे भाषा-विन्यास के प्रति कड़ी सावधानी रखनी होती है। लेखक को तो केवल शब्दों और वाक्यों के द्वारा अपने भावों का रूप खड़ा करना पड़ता है। उसकी सफलता में उसका लेखन-कौशल ही एकमात्र सहायक होता है। कोई दूसरा पाठक के समक्ष उसकी वकालत करने को प्रस्तुत नहीं होता। इसलिए लेखक के लिए तीन बातें आवश्यक हैं—(१) भाषा की शुद्धता, (२) वाक्य-रचना की व्यवस्था और (३) विचारों की स्वाभाविक शृंखला।

अभ्यास और चिन्तन से ये तीनों बातें प्राप्त हो सकती हैं। भाषा की शुद्धता और वाक्यरचना की व्यवस्था के लिए अभ्यास ही मुख्य वस्तु है। बिना अभ्यास के इनमें प्रवीणता आनी कठिन है। सुलझे हुए और क्रमबद्ध विचार गंभीर चिन्तन के फल हैं। जिसने शान्ति के साथ किसी विषय पर सोचा नहीं, उसके सब पहलुओं को उलट-पुलट कर नहीं देखा, वह उस विषय से सर्वथा अपरिचित ही रहेगा। वह अपने शृंखलाबद्ध विचार प्रस्तुत न कर सकेगा। किन्तु चिन्तन का आधार हमारा ज्ञानभंडार है। यह जितना ही वृहत् और पूर्ण होगा, चिन्तन-कार्य उतना ही सहज हो जायगा और उतनी ही सरलता से हम अपने विचारों की माला गूँथ सकेंगे। हमारा ज्ञान-भंडार मुख्यतया इन तीन उपादानों से भरा जाता है, (१) निरीक्षण (२) भ्रमण और (३) अध्ययन।

निरीक्षण

सारी दुनियाँ हमारी आँखों के सामने है। सभी उसका अवलोकन करते हैं, पर ऐसे बहुत थोड़े हैं जो बारीकी से हरएक बात पर नज़र डालते हों। प्रत्येक वस्तु और व्यापार का सूक्ष्म निरीक्षण करनेवाले के हृदय-पटल पर उसका चित्र स्पष्ट हो जाता है। अपने अनुभव के आधार पर ही हम दूसरों को अपने लेख द्वारा किसी वस्तु या व्यापार का ज्ञान कराते हैं। यदि हमारा निरीक्षण ही पूरा नहीं है, हमें स्वयं ही उस व्यापार का स्पष्ट बोध नहीं हुआ है, तो हम दूसरे को उसका बोध क्या करायँगे? इसलिए ध्यानपूर्वक किया गया पूर्ण निरीक्षण परमावश्यक है।

भ्रमण

भ्रमण या पर्यटन ज्ञानार्जन का कितना बड़ा साधन है, यह सब को मालूम है। स्थान-स्थान पर जाकर प्रत्येक वस्तु और व्यापार को अपनी आँखों से देखने, उनके संसर्ग में रहकर अपने ज्ञानकोष को बढ़ाने की इसमें बड़ी गुंजाइश है। गुरु और पुस्तकों की सहायता से हमें जो ज्ञान होता है, वह अप्रत्यक्ष-ज्ञान है। पर्यटन का समस्त ज्ञान प्रत्यक्ष-ज्ञान है। इसका हमारी स्मरणेन्द्रिय पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इस तरह प्राप्त किया हुआ ज्ञान विस्मृत नहीं हो सकता। इससे स्मरणशक्ति पर अधिक बल भी नहीं पड़ता। नित्य नवीन चीज़ों को देखने से भावों में विकास होता है और कल्पना को नवीन क्षेत्र प्राप्त होते हैं। इसलिए इसकी उपयोगिता भी स्वतः सिद्ध है।

अध्ययन

भ्रमण करने के साधनों के अभाव में अध्ययन ही ज्ञानार्जन का एकमात्र उपाय है। प्रायः लोग इसी की शरण लेते हैं, क्योंकि भ्रमण बड़ा व्यय साध्य साधन है। अध्ययन देशकाल की दूरी को सर्वथा नष्ट कर देता

है। पुस्तक के ज़रिये हम लाहौर में बैठे बैठे बर्लिन और मास्को, लंदन और पेरिस के विद्वानों का संसर्ग प्राप्त कर सकते हैं। बीसवीं शताब्दी में, प्रभातकाल में, वैदिक युग के वाल्मीकि और वसिष्ठ, व्यास और मनु के विचारों उन्हीं के शब्दों में सुन सकते हैं। किन्तु इस साधन को आजकल बड़ी सावधानी से काम में लाना चाहिए। ज्ञान-विज्ञान के इस युग में पुस्तकों की बाढ़ आगई है। उसमें से शुद्ध, सुपाठ्य और विचारों को उन्नत करने वाले सुन्दर ग्रंथ ही पढ़ने चाहिए, पुस्तकों का कीड़ा बनने से कोई लाभ नहीं है।

इन सब साधनों को प्राप्त कर चुकने के उपरान्त निबंध-लेखक को लेखन-कला के नियमों की जानकारी हासिल करनी चाहिए। कला-कुशल लेखक व्यर्थ के विस्तार से बच सकता है। वह संक्षेप में ही अपने आशय को प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करके वांछित प्रभाव उत्पन्न कर सकता है, जबकि लेखन-कला से अनभिज्ञ पुरुष विषय का अच्छा ज्ञान रखने पर भी अपनी बात उस खूबी से पाठकों के सामने रखने में असमर्थ रहेगा। उसके लेख में वह गठन, वह सौष्ठव और वह चुस्ती, नहीं होगी। उस के लेख का कोई अंग फूला हुआ, कोई चिपका हुआ, कोई शिथिल और कोई प्राणहीन-सा नज़र आयेगा। इस लिए लेखन-कला के ज्ञान अनिवार्य है।

प्राय: यह बात देखने में आती है कि ऊपर बताए हुए समस्त साधन प्राप्त होने पर भी बहुत से लोग निबन्ध के नाम से दस-बीस लाइनें भी नहीं लिख सकते। उन्हें लेखनी उठाते हुए झिझक होती है, मन में भाव रखते हुए भी यह नहीं सूझता कि कैसे आरंभ किया जाय? यह कठिनाई प्राय: उन्हीं को होती है, जिन्हें लेखन-कला का अभ्यास नहीं है। पर कला के नियमों का ज्ञान कर लेने से ही यह कठिनाई एकदम दूर हो जाय, ऐसा भी नहीं है,

क्योंकि निवंध लिखने का कोई एक निश्चित तरीका नहीं है। प्रत्येक लेखक अपने ही ढंग से निवंध लिखता है, और यही सर्वोत्तम उपाय है। केवल अपने आप को सँभाल लिया जाय, अपनी शक्ति में विश्वास कर लिया जाय, और विचारों को स्वाभाविक क्रम के अनुसार लिपिबद्ध कर दिया जाय। तथापि लेख में लेखक के लिए ध्यान देने के तीन स्थल होते हैं—प्रारंभ, निर्वाह और समाप्ति। इन्हीं को क्रमशः प्राक्कथन, विवेचनीय विषय और उपसंहार कह सकते हैं। इन पर ध्यान दे लेने से लेख की सीमा निश्चित हो जाती है। लेखक को इधर-उधर भटकना नहीं पड़ता। अब हम निवंध के इन तीन मुख्य अंगों के संबंध में पृथक-पृथक अपने विचार प्रकट करेंगे।

प्रारंभ

प्रारंभ में पाठक को संपूर्ण निवंध पढ़ने के लिए प्रवृत्त करने की क्षमता होनी चाहिए। अतः प्रारंभ जितना ही रोचक होगा उतना ही यह कार्य सरलता से हो सकेगा। किन्तु रोचकता के लिए विषयान्तर नहीं कर देना चाहिए। विषय की ओर अग्रसर होते हुए जो रोचकता लाई जाती है, वही लेख की उपयोगिता और शोभा दोनों को बढ़ाती है। इसलिए कभी-कभी विद्वानों के तद्विषयक उद्गार उद्धृत करके लेख का आरंभ किया जाता है।

निर्वाह

निर्वाह लेख का मध्य भाग है और मुख्य भी है। मुख्य इसलिए कि लेख का अभिप्राय इसी में सार्थक होता है, इसी भाग में विषय का विवेचन और प्रतिपादन किया जाता है। आरंभ में जिस प्रमुख भाव का आभास दिया गया है, वह पल्लवित, पुष्पित और फलित यहीं होता है। इसमें लेख के विषय के अनुसार या तो विश्लेषण की रीति का अवलंबन किया जाता है या संकलन की। व्याख्यात्मक

और तार्किक लेखों में प्राय: विश्लेषण और आख्यानात्मक तथा वर्णनात्मक में संकलन की रीति से काम लिया जाता है। विश्लेषण की रीति में रचना में परिव्याप्त प्रमुख भाव को खोलकर दिखाना उद्दिष्ट रहता है। संकलन में बिखरी हुई सामग्री को इस प्रकार विनियोजित और सुसज्जित करना पड़ता है कि उसमें सुसंबद्धता आ जाय और वह प्रमुख भाव को व्यक्त करने लगे। विषय के अनुसार लेख के मध्य भाग में कोई सी रीति काम में लाई जा सकती है, पर दोनों ही दशाओं में इस भाग के आवश्यकतानुसार विभाग कर लिये जाते हैं। इन भागों को अनुच्छेद (Paragraphs) कहते हैं। प्रत्येक अनुच्छेद में दो बातें ध्यान देने की होती हैं, प्रथम यह कि वह रचना के अन्तर्गत अनेक विचारों में से किसी एक ही विचार को व्यंजित करता हो। दूसरे यह कि वह उस विचार-शृंखला का क्रमबद्ध और सयुक्तिक विकास प्रतीत हो, जो उस प्रमुख भाव से संलग्न है। इस प्रकार हम सहज ही निबंध के मध्यभाग को पूर्ण करके उसकी समाप्ति के लिए तैयार हो सकते हैं।

समाप्ति

समाप्ति का उद्देश्य अधिक से अधिक समय तक पाठक के हृदय को निबंध के प्रभाव से प्रभावित किये रहने का है। निबन्ध को पूर्ण करते-करते उस के दिल पर एक गहरी लकीर खिंच जानी चाहिए और जब कभी मौका आ जाय वे लाइनें सजीव होकर निबंध के विषय को उसके ध्यान-लोक में मूर्तिमान कर दिया करें। निबन्ध की समाप्ति में इस सजीवता और ओजस्विता का समावेश करने के लिए कुशल लेखक कई मार्गों का अवलंबन करते हैं। सब से सीधा और सरल तरीका तो यह है कि प्रभावशाली शब्दों में

विषय का सारांश लिखकर पाठकों को प्रभावित किया जाय। इसके अतिरिक्त बुरा-भला परिणाम अंकित करके भी पाठकों को विचार-लीन किया जाता है, कभी-कभी भूत-भविष्य के चित्रण द्वारा मन में सुधार की आकांक्षा को बलवती किया जाता है, और कभी आरंभ की भाँति अन्त में भी कोई अनुकूल अवतरण देकर अभीष्ट सिद्ध करने की चेष्टा की जाती है, इत्यादि।

अब निबन्ध-लेखक के सामने भाषा और शैली का प्रश्न उपस्थित होता है। भाषा की शुद्धता और वाक्य-रचना की व्यवस्था पर कैसे अधिकार किया जाय, यह पहले बता चुके हैं। यहाँ भाषा से आशय उसके सरल या दुरूह प्रयोग से है। आरम्भिक लेखकों को प्रायः यह निर्णय करने में कठिनाई होती है कि किस निबन्ध में सरल भाषा का आधार लें और कहाँ संस्कृत भाषा का प्रयोग करें? इस सम्बन्ध में हमें इतना ही कहना है कि निबन्ध के उद्देश्य के अनुसार ही भाषा का प्रयोग समीचीन ठहरता है। निबन्ध-लेखन के दो ही लक्ष्य होते हैं, या तो लेख द्वारा किसी बात का बोध कराना, अथवा भाव-विशेष का पाठक के हृदय में संचार करना। अब जिसे किसी विषय का बोध कराना हो इष्ट होगा, वह भाषा की दुरूहता में अपने विचारों को आच्छन्न न होने देगा। वह तो बढ़िया से बढ़िया तर्कों को काम में लाएगा, ताकि उसके कथन की उपयुक्तता सामने वाले आदमी को जँच जाय। इसके लिए जहाँ तक हो सकेगा वह सीधी और टकसाली भाषा में अपनी विचार-शृंखला पिरोता जायगा। भाषा की आलंकारिकता में पड़कर अपने विचारों के प्रभाव को कम न होने देगा। इसके प्रतिकूल जिसका लक्ष्य भाव-संचार होगा, जो रस-विशेष के प्रवाह में पाठक की मनोवृत्ति को तल्लीन करना चाहेगा, वह तदनुकूल ही

परुष या कोमल शब्दावली का सहारा लेगा और वैसे ही अलंकारों की योजना करेगा। कवि लोग आलंकारिक भाषा का प्रयोग इसी हेतु करते हैं, पर वैज्ञानिकों का ध्येय विषय-बोध ही होता है, इसी से उनके निबन्धों में सीधी सादी और स्वच्छ भाषा पाई जाती है। इसी लक्ष्य-भेद को ध्यान में रख कर निबन्ध के लिए भाषा का निर्णय करना चाहिए।

यहाँ हमें यह भी जान लेना चाहिये कि निबन्धों के कितने प्रकार होते हैं? यों तो विषय के अनुसार निबन्ध अनेक प्रकार के हो सकते हैं। जैसे साहित्यिक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, दार्शनिक, आलोचनात्मक आदि, किन्तु वर्णन-प्रणाली के अनुसार उनके मुख्य चार प्रकार हैं—वर्णनात्मक, आख्यानात्मक, व्याख्यात्मक और तार्किक। इन चारों प्रकारों के अन्तर्गत प्रायः सभी विषयों के निबन्धों का समावेश हो जाता है।

वर्णनात्मक

कल्पना-लोक में या आँखों के सामने मूर्तिमान दृश्य, व्यापार या विचार को यथावत् चित्रित कर देना ही ऐसे लेखों का उद्देश्य रहता है। ये भावात्मक और बोधात्मक दोनों प्रकार के हो सकते हैं। इनके अन्तर्गत दृश्य, ऋतु, मेला, उत्सव, नगर, इमारत, यात्रा और डायरी आदि का वर्णन रहता है।

आख्यानात्मक

इस श्रेणी के लेखों में कुशलतापूर्वक वास्तविक या काल्पनिक घटनाओं की परम्परा का विधान प्रदर्शित किया जाता है। इनका लक्ष्य प्रायः वस्तुबोध, पर कभी-कभी भाव-संचार भी रहता है। इनके अन्तर्गत पुराण, इतिहास, जीवन-चरित्र, उपन्यास, कहानी, सामयिक घटना, आविष्कार आदि आते हैं।

व्याख्यात्मक

ऐसे लेखों का उद्देश्य वैज्ञानिक प्रणाली के अनुसार व्याख्या करके वस्तु-बोध कराना होता है। इनमें शान्ति, क्रोध, क्षमा, दया, शिक्षा, मैत्री, स्वावलंबन आदि व्याख्या की अपेक्षा रखने वाले अमूर्त विषय समाविष्ट हो सकते हैं।

तार्किक

इस कोटि के निबन्धों में लेखक का ध्येय अपने युक्ति-विधान को मनवाने का होता है। व्याख्यात्मक निबन्धों की भाँति इनमें भी वस्तु-बोध ही लक्ष्य रहता है। इनके भीतर तुलनात्मक, आलोचनात्मक, विवादात्मक, सामाजिक, राजनीतिक, आदि निबंध आ सकते हैं।

रही शैली की बात। साधारणतया सरल और दुरूह शब्दों के प्रयोग के अनुसार ही लोग शैली को सरल या कठिन मानते हैं, या यों कहें कि शब्दों और वाक्यों को ही शैली का एक मात्र व्यंजक माना जाता है। वस्तुतः बात ऐसी नहीं है, शब्द और वाक्य तो सभी की वाणी और सभी के विचारों की सेवा को प्रस्तुत रहते हैं, पर सभी की रचना में तो एक-सा प्रभाव, एक-सा स्वाद, एक-सा प्रसाद और एक सा लालित्य नहीं पाया जाता। यही भिन्नता वास्तव में शैली का स्वरूप है। शैली शब्दों का प्रयोग करने के ढंग में रहती है। कोई लेखक किस प्रकार अपने मनोगत विचार व्यक्त करता है, शैली इसी बात की परिचायक है। रचयिता और रचना के संबंध हमें शैली से ही ज्ञात होता है। वही तो कुशल लेखक का सर्वस्व है। उसी में उसकी मौलिकता रहती है। शैली रचना पर लेखक के व्यक्तित्व की छाप है।

यों तो किसी कुशल लेखक की शैली का यथावत् अनुकरण करना कठिन ही नहीं असंभव है; पर नवीन लेखक को अपनी

मौलिक शैली स्थिर करने से पहले अपने पूर्ववर्ती किसी बड़े लेखक की शैली को आदर्श मानकर अभ्यास करना चाहिए। उसमें अपनी मौलिकता तो रहेगी ही, साथ ही उस बड़े लेखक की शैली की विशेषताओं का भी समावेश हो जायगा। किन्तु यह कहना कठिन है कि कौन किस शैली का अनुकरण करे। कारण कि प्रत्येक शैली हर एक की विचार-प्रणाली के अनुकूल नहीं हो सकती। जिसके विचार सुलझे हुए होंगे तथा भाषा और शब्दों पर अधिकार होगा उसकी शैली धारावाही, सुबोध और संक्षिप्त होगी। जिसका स्वभाव बात को घुमा फिराकर और चमत्कार-पूर्ण ढंग से कहने का होगा वह जटिल पर अलंकृत शैली का अनुकरण करेगा। इसलिए अपनी विचार-परंपरा और अपनी रुचि के अनुसार प्रत्येक लेखक को शैली का चुनाव स्वयं करना चाहिए। शैली पर ही लेखक की सफलता और विफलता का दारोमदार रहता है।

सेठिया कालेज,
बीकानेर
१५-११-३४

शंभूदयाल सक्सेना

वर्णनात्मक निबन्ध

वर्षा ऋतु

वर्षा ऋतु बड़ी सुहावनी ऋतु है। ग्रीष्म की भयंकर ज्वाला से झुलसा हुआ संसार जब वर्षा की बूँदों से लहलहा उठता है, तो ऐसा मालूम पड़ता है मानों खँडहर उपवन में बदल गया हो, या मुर्दों का संसार जीवन-रस से आप्लावित हो गया हो। चारों ओर हरियाली छा जाती है। सर-सरिताएँ उमंगित होकर बहने लगती हैं। आकाश धूल-रहित हो जाता है। वृक्ष धुल जाते हैं। काली-काली घटाएँ उमड़ आती हैं। मयूर नाच उठते हैं। पपीहे विरह को जगा देते हैं। रजनी की काली अँधियारी में जुगनुओं के दल के दल झिलमिल-झिलमिल करते हुए अपूर्व आनन्द देते हैं। संध्या के अंबर-डंबर और प्रभात की भीनी-भीनी फुहार मन को हरण करती है। झींगुर झनकारने लगते हैं। दादुर बोलने लगते हैं। सारी सृष्टि संगीतमय हो जाती है। सारा जगत अपूर्व आनन्द के आस्वादन में अपने अस्तित्व को भूल जाता है।

जब प्रकृति इस प्रकार सौंदर्यशालिनी हो उठती है, तो मनुष्य का हृदय भी आनन्द के वेग से अधीर हो जाता है। बालक जल-क्रीड़ा में निमग्न हो जाते हैं। उत्सव मनाये जाने लगते हैं। लड़कियाँ झूले झूलती हैं। स्त्रियाँ मलार गाती हैं। कृषकों के हर्ष का तो ठिकाना ही क्या? पानी बरसता जाता है; वे हल जोतते और

खेत बोते जाते हैं। उनके लिए जल की ये बूँदें मोतियों की वर्षा के समान हैं। स्त्री-बच्चे, पुरुष-पतोहू सब के सब कार्य में लगे हैं। श्रम आज उन्हें नहीं सताता। कार्य से आज उनके शरीर में थकावट नहीं आती। क्या ही अपूर्व दृश्य है! चरवाहे गाय भैंसों को जलक्रीड़ा करने के लिए छोड़ कर अमराई में जा पहुँचे हैं। वर्षा से धुले हुए पके-पके, मीठे-मीठे आमों का रस चूसते जाते हैं और एक रसीला देहाती गीत गाते जाते हैं। दूसरी ओर निकल चलिए तो जामुन ही जामुन लगे हैं। तोतों के दल के दल उन जामुनों पर स्वच्छन्द विचरण कर रहे हैं। कभी-कभी पुरवैया का एक झोंका आ जाता है, तो पके हुए, फूले हुए, रसीले फल बरस पड़ते हैं। अहा, कैसी बहार है!

इस महान उत्सव का कारण क्या है? क्यों आज दर्शक का मन बेकाबू हो जाता है? आँखें इस दृश्य को एकटक निहारने के लिए क्यों आतुर हैं? इस प्राकृतिक परिवर्तन में हृदय क्यों इस प्रकार रम गया है? मनुष्य, पशु, पक्षी, जड़-चेतन आज सब में हर्ष और अनुराग की बाढ़ क्यों आ गई है? इसका एक कारण है। गुरुतर कष्ट के उपरान्त साधारण सुख की भी महिमा बढ़ जाती है। ग्रीष्म की कठोर ज्वाला के महाभयंकर कष्ट सहन करने के उपरान्त यह असाधारण, अपूर्व तथा अलौकिक सुख का दृश्य प्राप्त हुआ है। तब क्यों न दुनियाँ अपने अस्तित्व को भूल जाय? योग की पंचाग्नि ताप ने के बाद देवता के वरदान स्वरूप यह वर्षाकाल आया है। यह तो हमारी महान साधना की अपूर्व सिद्धि है। यह हर्ष का ही समय है। यह किलोल का ही अवसर है। यह राग-रंग की ही वेला है। उत्सव मनाओ। देवताओं की पूजा करो, जिनकी कृपा से ग्रीष्म-रूपी दैत्य से सकुशल छुटकारा मिल गया है।

यदि ग्रीष्म के बाद वर्षा का आगमन न होता, यदि शरद और हेमन्त या हेमन्त और शिशिर के बीच वह आती तो क्या होता? क्या ऐसा ही अपूर्व दृश्य होता? क्या इसी प्रकार जगत् में मद और मस्ती छा जाती? क्या प्रकृति की शोभा में प्राणियों का आनन्द-रस इसी प्रकार एकाकार हो जाता? तब शायद यह कुछ भी न होता। लोग घरों में छिपे रहते। पशु-पत्ती अपने-अपने निवासस्थानों से बाहर न आते। तब वर्षा का आना वन में बाँसुरी बजने के समान होता। इसलिए वर्षा न केवल सुन्दर बनकर आती है बल्कि सुंदर और उपयुक्त समय पर भी आती है। गरमी से जले हुए व्याकुल जगत को ही वर्षा की शीतल फुहारों की आवश्यकता रहती है, उत्तप्त भूमि को ही काली घटा की रिमझिम-रिमझिम में आनन्द आता है। कालिदास का मन-मयूर शरद की वर्षा को देखकर नहीं नाच उठा था। आषाढ़ के मेघ ने ही उन्हें भावाभिभूत करके व्याकुल कर दिया था और तभी वे "मेघदूत की सजल कल्पना' करने में समर्थ हो सके थे। गृहत्यागी बाबा तुलसीदासजी के विरक्त मन को भी वर्षा के अलौकिक दृश्य ने व्याकुल कर दिया था। युवावस्था के मतवाले काल में जिसको त्यागने में उनका मन विचलित नहीं हुआ था, संन्यास को वरण करके जिस स्मृति को वे कब की विस्मृत कर चुके थे, क्या वही स्मृति सजीव होकर उनकी इन पंक्तियों में नहीं झलकती है,

"घन घमंड नभ गरजत घोरा। प्रिया-हीन डरपत मन मोरा।"

यह वर्षाकाल ऐसा ही है, इसमें ऐसी ही मादकता है। यह सूखे वृक्षों को हरा कर देता है। मुरझाई हुई लताओं को कुसुमित कर देता है। मरे हुए मनों को नया जीवन दान करता है। भारत की तीन प्रधान ऋतुओं में वर्षा का माहात्म्य इसलिए सब से अधिक

है। वर्षाऋतु का एक-एक दिन नये-नये उत्सवों को लेकर आता है। आज दरिद्रता के कारण भले ही उत्सवों में वह बहार न रही हो, पर एक स्मृति तो कायम है। वह आज एक प्राचीन लकीर मात्र रह गई है सही, पर प्रथा बन कर भी वह वृद्ध भारत के यौवनकाल की सूचना दे रही है।

वर्षा के साथ-साथ इन आनन्द-उत्सवों का एक कारण यह भी है कि वर्षा पर ही समस्त धन-धान्य की उपज निर्भर करती है। वर्षा का आगमन उस लहलहाती हुई भावी फसल की सूचना है, जिसके लिए सब प्राणी आशा लगाये हुए हैं। वर्षा उस देवदूत की तरह है जो देवता के यहाँ से प्राणिवर्ग के लिए वरदान के सुनहले शब्द लाया है। भला उस देवदूत के स्वागत में कौन अपने हृदय के द्वार न खोल दे? हर्ष, कुतूहल और संभ्रम के साथ सब की आँखें उस वरदान के शब्द बाँचने की ओर लगी हैं। मकई, ज्वार, बाजरा, तिल और धान के लहलहाते खेत ही वे पंक्तियाँ हैं, जिनमें वरदान की भाषा व्यक्त हुई है। आकाश का इन्द्रधनुष उस देवदूत की मुसकराहट है। बादलों का मन्द-गर्जन उसकी गंभीर वाणी है। चपला की चमक उस का अट्टहास है। उसके इशारों से मालूम पड़ता है कि वह देवता की प्रसन्नता को ही वरदान के शब्दों में भर लाया है। वह प्रसन्नता निर्मल जल बनकर बरस पड़ी है। नदियाँ और तालाब आज उससे संपूर्ण हो गए हैं। रिक्तता किसी में भी नज़र नहीं आती। आकाश में पंख खोल कर उड़ी जाती हुई धवल बक-पंक्ति देवदूत के इंगित को समझ गई है। हरी-हरी क्यारियों के बीच विचरती हुई वीरबहूटियों ने उसके संदेश को सुन लिया है। नदी के तट पर अपनी प्रेयसी के साथ सानन्द घूमने वाले सारस को भी उसका आना ज्ञात हो गया है।

सरोवरों में खिले हुए कमल उसे नमस्कार कर रहे हैं। जुही की लताएँ, मौलसिरी के वृक्ष, तमाल की शाखाएँ और हरसिंहार के झाड़ उसे पुष्पांजलि समर्पित करने की तैयारी करने लगे हैं।

वर्षा, तू धन्य है जो सब के आनन्द का संवर्धन करती हुई आती है। वसन्त की वह पुष्पराशि, उसके वे सुकोमल रक्त-किशलय तेरी ही अनुकंपा के प्रसाद हैं। वे चैत्र-वैशाख के सुनहले खलिहान, वे माघ और फाल्गुन के नीले-पीले अलसी और सरसों के खेत, तेरे ही वरदान के अमृतफल हैं। यदि तू न होती तो दीवाली और होली के महान उत्सव मनाने की किसे इच्छा होती? यदि तू न होती तो 'वसन्त-पंचमी' के सरस्वती-पूजन के लिए मन्द-मन्द सुरभि को फैलाती हुई आम्र-मंजरी कहाँ से आती? गेंदा और गुलाब, निवारी और बेला, चंपा और चमेली, केतकी और केवड़ा, खस और मोगरा सभी तेरे चरणों की धूल को अपने मस्तक पर लगा कर सौंदर्य और सुषमा के आगार बने हैं। वन और उपवन, पर्वत और उपत्यका, खेत और मैदान में जो कुछ वैभव है, जितनी भी श्री है, सब तेरे ही साथ आई है। माता वसुन्धरा को 'सजला, सफला और शास्य-श्यामला' बनाने वाली तू ही है। प्रकृति-वधू का नित्य नूतन शृंगार करने वाली तू ही है।

सृष्टि का श्रेय दुनियाँ बूढ़े विधाता के सिर पर व्यर्थ ही लादती है। उसमें वह वीर्य कहाँ? उसमें वह तेज कहाँ? उसकी तो सारी शक्तियाँ शिथिल हो गई हैं। वह काम वर्षा ने अपने हाथों में ले लिया है। उसकी मेघमाला ही सारा सृजन कार्य करती है। बस्तियों की चहल-पहल उसी की रचना है। सघन और असंख्य जीवों से परिपूर्ण प्रदेशों का श्रेय उसी को है। जलचर, थलचर

और नभचर सृष्टि की एक मात्र विधायिका वही है। वर्षा महारानी के हाथ में केवल सृजन कार्य नहीं, संहार कार्य भी वहुत अंशों में है। भोले-भोले शंकर ने उसकी कर्तृत्व-शीलता पर प्रसन्न होकर अपने वहुत से अधिकार उसके हाथों में दे दिये हैं। अति-वर्षण और अनावर्षण वर्षा के रौद्र रूप हैं, जिनको देखते ही सारा संसार त्रस्त होकर हाहाकार करने लगता है। अपने इन रूपों के द्वारा वर्षा महारानी जहाँ चाहती है वहाँ सत्यानाश का रूप खड़ा कर देती है। वन-उपवनों को मरुभूमि में परिणत कर देना, पर्वतों को समतल कर देना, बाढ़ द्वारा लाखों जनों को गृहविहीन कर देना, उच्च अट्टालिकाओं को भूमिसात् कर देना, लहलहाती खेती को उजाड़ देना, नदियों को सुखा देना, चारों ओर श्मशान वना देना उसकी भृकुटी के एक बल पर संभव है। अधिक कहाँ तक कहें उसे सारी शक्तियाँ प्राप्त हैं और हम विनीतभाव से उसके समक्ष नतमस्तक होते हैं।

नदियों से लाभ

नदियों के लाभ इतने अधिक हैं कि यदि उनका पूरा-पूरा और सिलसिलेवार वर्णन किया जाय तो एक स्वतंत्र पुस्तक तैयार हो जाय। इस छोटे से लेख में उनका भली प्रकार हवाला दे सकना संभव नहीं है। इस लिए हम यहाँ मुख्य-मुख्य लाभों का ही उल्लेख करेंगे और वह भी संक्षेप के साथ। आशा है पाठक स्थल की कमी को ध्यान में रखकर इस संक्षिप्त वर्णन से ही संतोष करेंगे।

नदी की प्रायः तीन अवस्थाएँ होती हैं—उद्गम, प्रवाह और मुहाना। इन्हीं को हम पार्वतीय, मैदानी और डेल्टा की अवस्था भी कह सकते हैं। पार्वतीय अवस्था में नदी अपना रूप धारण करती है। वहाँ की ऊँची-नीची भूमि उसके प्रवाह को रोकती है। इसलिए नदी को बहुत सा संहार-कार्य करना पड़ता है। वह किनारों को काट डालती है। चट्टानों को तोड़ फोड़ देती है। रास्ते में आने वाले वृक्षों और पर्वत-शृंगों तक को गिरा देती है। भूमि के असमतल होने के कारण कहीं वह प्रपात बनाती है, कहीं प्रखर वेग से बहती है और कहीं पोली चट्टानों के नीचे से अपना मार्ग निकालती है। नदी की इस प्रथमावस्था में उसका रूप बड़ा भयानक और दृश्य भयावह होता है। इस अवस्था में यद्यपि मुख्य लाभ संहार कार्य ही है तथापि कभी कभी वह अपनी प्रखर धारा से काट-छाँट कर ऐसे-ऐसे विचित्र प्राकृतिक दृश्य उपस्थित कर देती

है, कि कुशल से कुशल कारीगर की कारीगरी भी उनके सामने कोई चीज़ नहीं है। पार्वतीय प्रदेशों में नदियों की बनाई हुई सुन्दर हरी-भरी घाटियाँ दुनियाँ के सबसे रमणीय और स्वास्थ्य-कर निवासस्थान हैं, जो साधारण लाभ नहीं है। तराई की भूमि में नदियों के जल की सुविधा होने से बड़े-बड़े सघन और कीमती जंगल होते हैं। फिर भी नदी के लाभों का आरंभ एक प्रकार से उसके मैदान में अवतरण होने के साथ होता है। मैदान में उतरते ही उसे बहने के लिए समतल भूमि मिलती है। उसका पहले जैसा वेग नहीं रहता। वह शान्त भाव से मन्द-मन्द गति से प्रवाहित होने लगती है। यहाँ वह पार्वतीय प्रदेश की भाँति अपना मार्ग भी जल्दी-जल्दी नहीं बदला करती। पार्वतीय-प्रदेश में प्रखर वेग से बहते समय उसका जल चट्टानों के टुकड़ों और किनारों की मिट्टी को अपने साथ बहा लाता है। मैदान में वेग कम होने से वह मिट्टी धीरे-धीरे निथरती और तह में बैठती जाती है। वह मिट्टी बिलकुल नवीन होने से बड़ी उपजाऊ होती है। साधारणतया यह उपजाऊ मिट्टी नदी के कछार में ही रहती है। वहीं पानी न रहने पर खेती करके उस से लाभ उठाया जाता है। किंतु कभी-कभी पहाड़ों में वर्षा होने के कारण, या बर्फ गलने की वजह से, नदी में बाढ़ आ जाती है। उस समय ऐसी मिट्टी कछार के बाहर दूर-दूर तक मैदान में भी बिछ जाती है और खेतों की पैदावार बढ़ाने का कारण बनती है। गंगा और उसकी सहायक नदियों ने हज़ारों साल से बहते-बढ़ते उत्तर भारत के मैदान में सैकड़ों फीट की गहराई तक ऐसी मिट्टी बिछा दी है। यही कारण है कि दोआबा, बिहार और बंगाल की भूमि इतनी उर्वरा है। भारतीय जीवन का आधार एक-मात्र खेती है, उस खेती के लिए सुन्दर और उर्वरा भूमि प्रस्तुत करने का काम

नदियाँ ही करती हैं। नदियों के द्वारा हरी-भरी बनाई हुई भूमि में ऊजड़ भू-भाग की अपेक्षा वर्षा की अधिक संभावना रहती है।

इसके अतिरिक्त नदियों के जल से आस-पास की खेती की सिंचाई होती है। जब कभी वर्षा नहीं होती तो किसान इन्हीं नदियों का सहारा लेते हैं। जहाँ नदियाँ नहीं हैं, वहाँ अनावृष्टि या असमय की वर्षा का अर्थ दुष्काल होता है; पर नदी-किनारे की भूमि सदा लहलहाती रहती है! वह वर्षा की परवाह नहीं करती। नदियों के किनारे ही बाग-बगीचे फूलते और फलते हैं। वहाँ उन्हें जल की कमी नहीं रहती। इसके सिवाय नदियों से नहरें निकाली जाती हैं। उनसे सुदूर और निर्जल प्रदेशों को भी हराभरा किया जाता है, ऊसर और मरुभूमि को भी लहलहाते खेतों में तबदील किया जा सकता है। पंजाब और युक्त-प्रान्त की नहरों ने देश की पैदावार बढ़ाने में कहाँ तक भाग लिया है, यह सब जानते हैं। सक्खर की बड़ी नहर सिन्ध के निर्जल भूभाग को उपवन बना देगी, इसमें सन्देह ही क्या है।

देश के भीतरी भागों में नदियाँ जल मार्गों का काम देती हैं। इन्हीं के द्वारा व्यापार और आवागमन होता है। सड़कों और स्थलमार्गों से नदियों के द्वारा आने-जाने में सहूलियत होती है और व्यय भी कम पड़ता है। भारतवर्ष में रेलों पर इतना अधिक रुपया खर्च करके सरकार अपनी ग़लती को महसूस करती है। यदि रेलवे कंपनियों में अंग्रेज़ों की पूँजी न लगी होती तो सरकार शायद उस स्कीम को, जो कई साल तक विचारार्थ पड़ी रही थी, काम में ले आती और आज रेलों की बजाय गंगा, यमुना, सिन्धु और रावी में नावें दौड़ा करतीं। यद्यपि रेलों ने आजकल नदियों के व्यापार और आवागमन को हथिया लिया है, तो भी बहुत से

ऐसे स्थान हैं जहाँ केवल नदियों के ही सहारे आया जा सकता है। पहाड़ों के दुर्गम मार्गों की रचना नदियों ने ही की है, और सब को उन्हीं का अनुसरण करना पड़ता है।

नदियाँ कहीं कहीं प्राकृतिक सीमा का काम भी देती हैं। यद्यपि आजकल सांग्रामिक दृष्टिकोण से नदियों का महत्त्व कम हो गया है, हवाई जहाजों, रेलों और स्टीमरों ने उन पर विजय पा ली है, पर तो भी वर्षा-काल में रेलों के पुल तोड़ कर कुछ काल के लिए भारत की नदियों को प्राकृतिक सीमाएँ बनाया जा सकता है, यदि हवाई-शक्ति का मुकाबला करने की थोड़ी क्षमता हो।

नदियों के तटवर्ती प्रदेश का जलवायु अच्छा स्वास्थ्यकर होता है। इसीलिए आधुनिक नगर भी प्रायः नदियों के किनारे ही बसाये जाते हैं। प्राचीन काल में रेल, मोटर और हवाईजहाज के अभाव में तो व्यापार-व्यवसाय और आवागमन के लिहाज़ से भी नगर नदियों के किनारे बसाये जाते थे। भारत के तो प्रायः सभी प्राचीन नगर किसी न किसी नदी के किनारे ही बसे हुए हैं। इस से नगर के स्त्री-पुरुषों को नहाने-धोने और जल-क्रीड़ा करने की कितनी सुविधा रहती है ? जो बड़े-बड़े नगर नदियों के तट पर बसे होते हैं वहाँ के नागरिकों को जल का कष्ट नहीं होने पाता। सुबह-शाम नदी के किनारे घूम कर दिमाग़ तरो-ताज़ा किया जा सकता है और शरीर की थकान मिटाई जा सकती है। नाव में बैठकर मील दो मील की जलयात्रा करके खिन्न चित्त को नवस्फूर्तिमय किया जा सकता है। नदी-तट का वातावरण एक दम शान्त, सुन्दर, पवित्र और आत्मचिन्तन के अनुकूल होता है। वहाँ पर ध्यानावस्थित होकर परम आत्मिक शान्ति लाभ की जा सकती है, और की जाती है।

कहीं-कहीं नदियों के जल में उपयोगी और स्वास्थ्यवर्धक रासायनिक पदार्थों का मिश्रण देखा जाता है। गंगाजल अपनी पवित्रता के लिए इसी कारण प्रसिद्ध है कि उसमें कई रासायनिक पदार्थों का मेल पाया जाता है। इसी से उसमें कभी कीड़े पैदा नहीं होते। हैज़ा आदि बीमारियों के कीटाणु उसमें स्वतः ही मर जाते हैं। फ्राँस की रोन नदी का जल रासायनिक द्रव्य-मिश्रित होने के कारण ही रेशम धोने के लिए काम में लाया जाता है।

नदियों के प्रवाह से पनचक्कियाँ चलाई जाती हैं। नदियों के प्रपातों से बिजली पैदा की जाती है। आजकल का विज्ञान तो बिजली के बिना खड़ा ही नहीं हो सकता। बिजली से जीवनोपयोगी प्रायः सभी काम हो सकते हैं। उसी बिजली का सब से बड़ा संग्रह नदियों से किया जाता है।

अन्ततोगत्वा नदियाँ आकर समुद्र में गिरती हैं। उस पतन के समय भी वे हमारा हित साधन करती है। एक तो वे अपने प्रदेश की सारी गन्दगी को बहा ले जाकर समुद्र में डाल देती हैं और निरन्तर डालती रहती हैं। दूसरे वे सागर से पृथ्वी का सम्बन्ध कराती हैं। वे एक मार्ग खोल देती हैं। व्यापार और वाणिज्य के इस युग में तो उस मार्ग का बड़ा महत्त्व है। दुनियाँ के प्रायः सभी बड़े-बड़े बन्दरगाह इन्हीं मार्गों या दहानों पर बसे हैं। भारत के कराची, रंगून और कलकत्ता ऐसे ही बन्दरगाह हैं।

इस प्रकार नदियों की उपयोगिता सर्वसिद्ध है। मांसाहारी लोग नदियों से एक और बड़ा लाभ उठाते हैं। वे अपने भोजन के लिये मछलियाँ प्राप्त करते हैं। भारत की उच्च जातियों में मांसाहार निषिद्ध है, तो भी लाखों की संख्या में लोग मछलियों पर

ही निर्वाह करते हैं। बंगाल और आसाम में तो सर्वसाधारण के भोजन का एक प्रधान अंग मछली है।

इन्हीं लाभों का विचार करके भारत में तथा अन्यान्य देशों में भी नदियों को पवित्र और पूजनीय समझा जाता है। भारत की मुख्य-मुख्य नदियाँ जैसे गंगा, यमुना, गोदावरी, नर्मदा आदि ने प्राचीन काल से हिन्दू जाति के हृदय पर अधिकार कर रखा है। वैदिक साहित्य से ले कर अब तक नदियों की महिमा का गान गाया जाता है। मिस्र देश में नील नदी को 'ईश्वर का वरदान' मानते हैं। नदियों के रम्य तटों पर उत्सव मनाने की चाल प्राचीन काल से हर एक देश में चली आई है। ग्रीस, रोम और इंगलैंड के कवियों ने अपने अपने देश की नदियों के अनेक गीत गाये हैं, जो सर्वथा उचित हैं।

जन्माष्टमी

"प्रत्येक जाति और प्रत्येक राष्ट्र ने वर्ष के कुछ दिनों को विशेष सम्मान दे रक्खा है। उन दिनों में वह जाति या वह राष्ट्र सार्वजनिक उत्सव मनाता है। यदि उन दिनों की ऐतिहासिकता की खोज करें तो या तो किसी महापुरुष की जन्मतिथि होने के कारण उन्हें वह महत्त्व प्राप्त हुआ है अथवा किसी जातीय विजय के वे स्मारक हैं। प्रत्येक जाति इस प्रकार के उत्सव मनाकर अपने सजीव होने की घोषणा करती है, और इस तरह गौरवमय अतीत के साथ अपने वर्तमान का सम्बन्ध जोड़ती है। हिन्दू जाति के लिए भाद्रमास के कृष्णपक्ष की अष्टमी भी इसी प्रकार का दिन है। इस तिथि को, सहस्रों वर्ष पहले, भगवान् कृष्ण ने जन्म लिया था। उनकी जन्म-तिथि होने के कारण ही इसे जन्माष्टमी कहते हैं।

यह हिन्दू जाति के लिए एक परम पवित्र दिन है। इस दिन उस महापुरुष ने जन्म लिया था जिसकी तुलना में कोई दूसरा महापुरुष नहीं ठहर सकता। प्राय: देखने में आता है कि दुनियाँ में अब तक जो जो महापुरुष हुए हैं उनमें से प्रत्येक में लोक-कल्याण की एक विशेष प्रवृत्ति अपनी चरमसीमा को पहुँची हुई थी। उसी के कारण वे अपने-अपने समाज में श्रद्धा और भक्ति के पात्र बने। कोई विद्वान था, कोई वीर था, कोई त्यागी था, कोई भक्त था, किसी की वक्तृत्वकला प्रसिद्ध है तो कोई राजनीति का पंडित था, इत्यादि। किन्तु हम देखते हैं भगवान् कृष्ण में जैसी सर्वतोमुखी

प्रतिभा थी वैसी और किसी में न थी। समस्त सुन्दर और अनुकरणीय प्रवृत्तियों का समुच्चय केवल एक कृष्ण के ही चरित्र में देखने को मिलता है। कहीं हम उन्हें गरीब जनता की सेवा में तत्पर देखते हैं। कहीं परम योद्धा के रूप में पाते हैं, तो कहीं नृत्य और संगीत के आचार्य के रूप में वे हमारे सामने आ जाते हैं। कहीं वे प्रकांड राजनीति-विशारद बन जाते हैं तो कहीं सामाजिक व्यवस्था देने वाले। उन्होंने कभी स्वयं राज्य की बागडोर अपने हाथ में नहीं ली, लेकिन राजाओं को बनाना और बिगाड़ना उनके बाँयें हाथ का खेल था। उनकी वक्तृता में जादू था, उनके आचरण में पवित्रता थी। वे परम योगी-राज थे और अपूर्व उपदेष्टा थे। उन्होंने अर्जुन के रथ का संचालन करके अखिल भारतीय राजनीति का संचालन किया था। उन्होंने गीता का उपदेश देकर अध्यात्म, दर्शन और कर्तव्य की गुत्थियों को सुलझाया था। उन्होंने बाँसुरी बजाकर साहित्य, संगीत और कला की प्रतिष्ठा की थी। उन्होंने अशिष्ट और उद्दंड शिशुपाल का वध करके शिष्टाचार की मर्यादा को स्थिर रक्खा था। उन्होंने महाभारत का युद्ध कराके पाप और पाखंड की दुर्दशा कराई थी। उन्होंने पांडवों की एकछत्रता स्थापित कराके धर्म और सत्य की पुनर्संस्थापना की थी। दरिद्र सुदामा की भेंट स्वीकार कर उन्होंने विनम्रता का आदर्श उपस्थित किया था।

उनकी प्रतिभा के सूर्य से भारतवर्ष का आकाश जगमग हो गया था। सभी उनका लोहा मानते थे। एक छोर से दूसरे छोर तक लोगों के हृदय उनके आदर-सम्मान को बिछ जाते थे। कंस जैसे प्रबल नरेश को उसीके सिंहासन पर मारने वाले, जरासंध जैसे भूपाल को उसी के राजप्रासाद में स्वर्ग भिजवाने वाले और दुर्योधन

जैसे कुरुवीर की उसी की राजधानी में खुलेआम भर्त्सना करने वाले कृष्ण अवश्य ही अकेले नहीं थे। उनके साथ लोकमत था। उन्हें जनता का बल प्राप्त था। वे जनार्दन थे। तभी तो सफलता उनके आगे-आगे चलती थी। यदि वे सब के प्यारे न होते तो यह सब कर सकना क्या उनके लिए शक्य होता? उनकी लोक-हितैषणा ने शत्रुओं के घर उनके भक्त पैदा कर दिए थे। अपने आचरण के कारण वयोवृद्धों में भी वे पूज्य थे। उनकी उपस्थिति में कोई दूसरा अर्घ्य का प्रथम अधिकारी न था। अपने जीवनकाल में ही इतना सम्मान उन्हें प्राप्त था।

तभी तो भगवान् व्यास जैसे महर्षियों ने उनका जीवन-चरित्र लिखकर अपनी वाणी को पवित्र किया है। हिन्दू जाति के आधे साहित्य का एक मात्र वेही आलंबन हैं। उन्होंने वैदिक कर्म-कांड की जटिलता में पड़ी हुई शुष्क-हृदय हिन्दूजाति में भावों की गंगा बहा दी थी। उन्होंने संस्कृति और सभ्यता के आदर्शों को आचरण की कसौटी पर कसके फिर से ताज़ा कर दिया था और यह सब करने वाले वही कृष्ण थे जो कारागृह में पैदा हुए थे। गँवार ग्वालों के साथ खेले और बड़े हुए थे, तथा वन-वन में गायें चराते फिरते थे।

उन्हीं के पवित्र व्यक्तित्व के साथ सम्बद्ध होने के कारण जन्माष्टमी की इतनी महिमा है। उस दिन प्रत्येक हिंदू परिवार कृष्ण का जन्मोत्सव मनाकर उस महापुरुष की याद करता है। उनकी स्मृति में अपनी श्रद्धा के फूल चढ़ाता है। उन्होंने जन्म लेकर संसार के सम्मुख जो जो आदर्श रक्खे थे, जन्माष्टमी के दिन उन आदर्शों की याद फिर ताज़ी हो जाती है। जीवन-संघर्ष में लोगों को पग-पग पर कठिनाइयाँ महसूस होती हैं! ऐसे बहुत कम व्यक्ति होते

हैं, जो कर्तव्य के राजमार्ग पर बिना विचलित हुए चले जाते हों। ऐसे लोगों को ठहर कर सोचने और कर्तव्याकर्तव्य का निश्चय कराने के लिए यह दिन बहुत उपयुक्त है। इस दिन लोगों की सद्-भावनाओं को नवजीवन प्राप्त होता है। वे फिर से अपने कर्तव्य में जुट जाने के लिए प्रेरित होते हैं। उस दिन धार्मिक हिन्दू उपवास रखते हैं, और भगवान कृष्ण की आराधना करते हैं; आधी रात के समय कृष्ण-जन्म के उपरान्त वह व्रत समाप्त होता है। दिन भर के उपवास से एक आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त होती है।

यह कहा जा सकता है कि हज़ारों वर्ष से हम यह उत्सव मनाते चले आ रहे हैं, लेकिन दूसरा कृष्ण तो उत्पन्न नहीं हुआ। यह आदर्शों के अनुकरण की बात व्यर्थ सी है। इस प्रकार के जयन्ति-उत्सव सार्वजनिक जीवन पर कोई प्रभाव नहीं डालते। ये केवल मनोविनोद की सामग्री हैं, और मनोविनोद अन्य प्रकार से भी किया जा सकता है। इस प्रकार के उत्सव तो व्यक्ति-पूजा को प्रश्रय देकर सामाजिक पराधीनता को जन्म देते हैं। लेकिन वास्तविकता यह नहीं है। जो लोग यह तर्क देते हैं वे यह भूल जाते हैं कि हम जो अपना जातीय जीवन सहस्रों वर्ष तक कायम रख सके हैं, अनेक उथल-पुथलों के बाद भी हम जो जीवित हैं, उसमें इन उत्सवों का बड़ा हाथ है। दूसरे कृष्ण पैदा न हुए सही, पर जाति के अन्दर कृष्ण के आदर्शों का आदर करने की भावना तो है। यह जीवन-जड़ी उसे अमर बनाने के लिए काफ़ी है। तब कौन कह सकता है कि भविष्य में भी वह अपने उद्देश्य की सिद्धि से वंचित रहेगा!

अतः प्रत्येक जाति जो दुनियाँ में जीना चाहती है, उसके लिए आवश्यक है कि वह अपने महापुरुषों की यादगार को सजीव

रक्खे। इस प्रकार के जयन्ती-उत्सव उसके जीवन के लिए परमावश्यक और परमोपयोगी हैं। आजकल नवीन सभ्यता की दुहाई देकर कुछ लोग अपने महापुरुषों के प्रति अनादरभाव प्रदर्शित करना ही उचित समझते हैं, लेकिन वे भी अपने न सही तो दूसरों के महापुरुषों के आगे सिर झुकाते ही हैं। इस प्रकार जातीय-जीवन के लिए ऐसे उत्सवों की मान्यता में कोई फर्क नहीं आता।

इसलिए प्रत्येक हिन्दू को जन्माष्टमी का उत्सव बड़ी धूमधाम से मनाना चाहिए। परन्तु इस धूमधाम में निरा बाहरी आडम्बर न होना चाहिए अपितु प्रत्येक व्यक्ति को यह प्रदर्शित करना चाहिए कि उसकी भावना के भीतर भगवान कृष्ण का अवतार हुआ है, उसकी कर्तृत्वशक्ति में वे आकर प्रवेश कर गये हैं, उनके आदर्श उसके आचरण में आकर मिल गये हैं। जिस दिन ऐसी जन्माष्टमी मनाई जायगी, उस दिन सत्य ही घर-घर कृष्ण का अवतार होगा। उस दिन अत्याचार और पापरूप कंस की पराजय हो जायगी, तथा सत्य, धर्म और दया की विजय-पताका उड़ेगी। तब भारतवासियों का ही नहीं विश्व-वासियों का कल्याण होगा। इसमें कौन संशय कर सकता है ?

प्राचीन भारत

प्राचीन भारत-विषयक हमारे ज्ञान के संबंध में कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा है कि, "आजकल भारतवर्ष का जो इतिहास पढ़ाया जाता है—जिसे रटकर लड़के परीक्षा देते हैं, वह आधी-रात के सन्नाटे में दिखाई दिये हुए दुःस्वप्न की कहानी मात्र है।......इस पृथ्वी पर भारतवासियों का स्थान कहाँ है, इसका कुछ भी उत्तर ये इतिहास नहीं देते। इन्हें देखने से यही जान पड़ता है कि भारतवासी कहीं हैं ही नहीं, भारत में जो लोग मारकाट, खूनखराबी, लूटपाट कर गये हैं वही जो कुछ हैं सो हैं।" बात भी ऐसी ही है। हम लोग यही मान बैठे हैं कि भारत का इतिहास पठानों और मुगलों, पोर्चगीज़ों और अंग्रेज़ों की विजय का इतिहास है। उनके पहले, और उनके आने के बाद के भारत के विषय में सब की ज़बानें चुप हैं। उनकी मौजूदगी में भारत था ही नहीं, और उनके आने से पूर्व यहाँ अन्धकार-युग था, यह बात विदेशी सरकार के स्कूलों में भले ही मान्य हो, पर भारत के असली रूप की झाँकी की जिन्होंने एक भी झलक देखी है, वे इससे सहमत नहीं हो सकते।

यदि सचमुच विदेशी-विजेताओं से ही भारतीय इतिहास का अस्तित्व है, तो प्रताप और शिवाजी, रणजीतसिंह और गुरु गोविन्दसिंह, सूरदास और तुलसीदास, तुकाराम और रामदास,

चैतन्य और नानक का जन्म-सूत्र किससे संबंधित किया जायगा ? इन्हीं विदेशियों के बवंडर की तह में असली भारत का प्रशान्त महासागर हिलोरें ले रहा है। यदि हम सुदूर अतीत की ओर दृष्टि डालें, और अपने दृष्टि-क्षेत्र में भारत के साथ संसार के अन्य देशों और महादेशों को ले लें तो एक अजीब ही दृश्य हमारी आँखों के सामने आ जाता है। उस समय ज्ञान और वैभव का सूर्य भारत के आकाश में चमकता दिखाई देता है। दुनियाँ के दूसरे भागों में घोर अज्ञान-निशा का साम्राज्य है। जातियाँ सो रही हैं। जो असमय में जाग उठे हैं, वे अंधकार में टटोल-टटोल कर व्यर्थ बाहर निकलने का प्रयत्न कर रहे हैं। इधर सरस्वती और दृशद्वती के किनारे, गंगा और गोदावरी के तटों पर, ज्ञान, विज्ञान और दर्शन की मीमाँसा में लोग रत हैं। हिमालय में कुबेर का घर है। महासागर में वरुण बसते हैं। वसुन्धरा पर लक्ष्मी नृत्य कर रही हैं। घरों में सरस्वती का आधिपत्य है। आकाश में सूर्य, चन्द्र और इन्द्र स्वयं मेघों को एकत्र करते हैं। समाज का संगठन स्वयं मनु ने किया है। ब्राह्मण विद्या के आगार हैं। क्षत्रिय वीरता के प्रतिरूप हैं। वैश्य व्यापार-कुशल हैं। शूद्र अपनी सेवा की पवित्र अंजलि से सब को मोल ले रहे हैं। राजा अपने हाथ से हल चला कर प्रजा को कर्तव्य की महिमा सिखाते हैं। समय आने पर ऋषि तलवार ले कर अत्याचारियों का दमन करते हैं। स्त्रियाँ भी गार्गी और मैत्रेयी, सीता और सावित्री बन कर पुरुषों की सहधर्मिणी बनती हैं। यह भारत का प्राचीन रम्य-रूप! भारत के इसी रूप पर भारतवासी गर्व कर सकते हैं। विदेशी लोगों ने भारत के इस रूप को इतिहास में भले ही स्थान न दिया हो, पर प्राचीन भारत की अन्तरात्मा इन्हीं तत्वों से बनी है।

समय के दूसरे स्तर में प्रवेश करके देखें तो भी भारत का ललाट ऊँचा है। वह अखिल संसार के उद्धार का संदेश, हिमालय के शिखरों पर, बड़े-बड़े अक्षरों में लिख रहा है। दुनियाँ उस धर्म-ज्ञान के आगे सिर झुका रही है। काशी और मगध, गया और कपिल-वस्तु की ओर संसार की आँखें लगी हैं। भगवान् बुद्ध की वाणी हिन्दमहासागर को लाँघ कर तथा हिमालय को वेधकर देशदेशान्तर में फैल गई है। राजा और प्रजा, स्त्री और पुरुष, देशी और पर-देशी, उच्च और नीच के भेदभाव को उस महान दृष्टि-कोण में स्थान नहीं है। वहाँ तो प्राणिमात्र के लिए एक-सा भाव है। वह भारत जीवमात्र के दुख से दुखी और उसकी पीड़ा के निवारण में प्रयत्न-शील है। अशोक के शिला-लेखों में आज भी उस भारत का चित्र देखा जा सकता है।

धर्म की भावुकता में ही भारत बहता हो सो बात नहीं। राज-नीति और समाजनीति, व्यापार और व्यवसाय, कृषि और उद्योग विज्ञान और साहित्य में उसकी समता तत्कालीन विश्व में कहाँ है ? वह तक्षशिला का विश्वविद्यालय और वह अष्टांग आयुर्वेद तथा वनस्पति-विज्ञान उस समय कहाँ थे ? सिकन्दर का व्यास तट तक आकर पाटलिपुत्र के ऊपर एक ज़ोर न आज़माना क्या नन्दों की रणदुर्द्धर्षता का परिचायक नहीं है ? पराजित पोरस और मालवों की तलवार ने ही क्या सिकन्दर को सावधान नहीं कर दिया था ? जिन्हें उष्ण देशवासी भारतीयों की विजय में विश्वास नहीं है वे सिकन्दर के सेनापति सेल्यूकस और सम्राट चन्द्रगुप्त के संघर्ष और उसके परिणाम को ज़रा देखने की कृपा करें। चाणक्य के अर्थ-शास्त्र और नन्दों तथा मौर्यों की अद्भुत शक्ति का उससे परिचय मिलता है।

यूरोप में यूनान उस समय चरम उत्कर्ष के दिन देख चुका था, तो भी यूनानी मेगस्थनीज़ बड़े आश्चर्य से कहता है कि, "यहाँ (भारत में) दो पौधे बड़े अद्‌भुत होते हैं—एक कपड़े का पौधा है और दूसरा मधु का।" गणित और ज्योतिष, चिकित्साशास्त्र और नीतिशास्त्र के साथ-साथ भारत ने अरब और यूरोप को ईख और कपास भी दी थी। उस समय रेल नहीं थी, तार नहीं थे, बिजली का यह वैज्ञानिक चमत्कार नहीं था, तो भी भारत के व्यापारपथ विस्तृत और दूरवर्ती देशों तक फैले थे। वर्मा और स्याम, चीन और तिब्बत, फारस और अरब, मिस्र और रोम भारतीय व्यापारियों का मुँह ताकते थे। भारतीय जहाज जावा और सुमात्रा तथा वाली आदि द्वीपों के किनारे जब लंगर डालते थे, तो वही दृश्य उपस्थित होता था जो आजकल जापानी और अंग्रेज़ी जहाज़ों के कलकत्ता और बंबई में आने से होता है। इस तरह धार्मिक दृष्टि से ही नहीं, हर दृष्टि से भारत दुनियाँ के लिए आश्चर्य का स्थान था। तो भी यह बात अवश्य है कि भारतीय जीवन में धर्म का स्थान प्रमुख था। उसका प्रत्येक कार्य धर्म से समन्वित था। यहाँ तक कि भारत में राजनीति भी धर्म से अनुशासित होती थी। अशोक की धार्मिक विजय की समानता दुनियाँ की कौन-सी राजनीतिक विजय करती है? खून की नदियाँ बहाकर अस्थायी शान्ति के दिन बहुतों ने देखे हैं, पर अभय का वरद हाथ बढ़ा कर इहलौकिक और पारलौकिक कल्याण के दिन देखने का सौभाग्य भारत—प्राचीन भारत—को ही मिला है।

पर जब हम जागते थे तो शेष जगत् निद्रामग्न था था और आज जब दूसरे लोग जाग रहे हैं तो हम पड़े खुर्राटे ले रहे हैं। आज शेष जगत् काम-काज में लगा है। वैभव और आलोक का

सूर्य आज भारत के सिर से खिसक कर पश्चिम की ओर चला गया है। हम आज रात्रि के तमोमय अंचल में शरण पा रहे हैं। पर क्या इसका यह अर्थ है कि आज शेष जगत् की ही सत्ता है, हमारा कोई अस्तित्व ही नहीं है? या हमारे ही साथ हमारा वह गौरवमय अतीत भी शेष जगत् के साथ परिगणित करने की चीज़ नहीं रहा? यह भ्रान्ति है। हम भी हैं, और हमारा अतीत भी है—और साथ ही शेष जगत् भी है। हाँ, कोई जागता है, कोई सो रहा है। जागने वालों और सोने वालों, दोनों को ध्यान रखना चाहिए कि कालचक्र की गति एक विशेष नियम की पाबन्द है। जो सूर्य पूर्व से पश्चिम को आज जाता है, वही पुनः कल यहाँ प्रभात लायेगा, यही प्रकृति का अटल सिद्धान्त है। पूर्वीय देशों की कुलबुलाहट उसी भावी प्रभात की नवस्फूर्ति, नवजीवन और नूतन उत्साह की सूचना दे रही है। किन्तु उस मंगलमय प्रभात की किरण जब हमारे मन्दिर की चूड़ा का स्पर्श करे तो उसे ऐसा मालूम न पड़ने पावे कि हम विदेशी भावभंगी से उसका स्वागत कर रहे हैं। प्राचीन भारत की विशेषता हमारे अन्दर बनी रहनी चाहिए, ताकि हमें पहचानने में उसे देर न लगे।

—— ——

हिन्दी भाषा की उन्नति

हिन्दी भाषा का जन्मकाल और हिन्दू-साम्राज्य का पतन-काल करीब करीब एक ही हैं। वह समय राजनीतिक उथल-पुथल का था। उस समय हिन्दी केवल समाज के बोलचाल की भाषा थी। साहित्यिक भाषा का स्थान भी उसे प्राप्त हो गया था पर लड़ाई-भिड़ाई के उस युग में उत्कृष्ट और कलात्मक साहित्य रचने की किसी को फुरसत न थी। हिन्दी का आदि रूप जो साहित्य में सुरक्षित है वह भाटों और चारणों के रचे हुए राजाओं के वीरता-पूर्ण चरित्रों में है। इसी से उस काल को वीरगाथाकाल कहते हैं। उस समय के काव्यों में हिन्दी का वह रूप था जिसमें अपभ्रंश तथा प्राकृत के शब्दों का ज्यादा प्रयोग होता था।

दो सौ वर्षों तक उपयुक्त अवस्था को पार करने के बाद हिन्दी भाषा का मध्यकाल आरम्भ होता है। यह काल लंबा और बड़े महत्त्व का है। यह १३०० से १८०० सं० पर्यंत चलता है। यह काल विशेषताओं की दृष्टि से दो उपविभागों में बाँटा जा सकता है। १३०० से १५०० तक पहला तथा १५०० से १८०० तक दूसरा। पहले भाग में हिन्दी की पुरानी बोलियाँ घिस-मँजकर क्रमशः ब्रजभाषा, अवधी और खड़ी बोली के रूप में आईं। दूसरे भाग में उन्होंने प्रौढ़ता प्राप्त की तथा अन्त में अवधी और ब्रज-भाषा का बहुत कुछ मिश्रण हो गया। इस दूसरे काल को हिन्दी

का स्वर्णयुग कह सकते हैं क्योंकि इसी काल में सूर, तुलसी, रहीम और बिहारी जैसे कवि विद्वानों का हाथ इसमें लगा। मध्यकाल के बाद वर्तमानकाल आरम्भ होता है। इस काल में धीरे-धीरे व्रजभाषा और अवधी का प्रचार कम होकर खड़ी बोली का प्राधान्य होता गया। इस काल में भाषा की प्रवृत्ति गद्य-रचना की ओर विशेष हुई तथा प्राकृत की बहुलता को त्यागकर हिंदी संस्कृत शब्दों से अपना कलेवर सजाने लगी। संस्कृत शब्दों को लेने की प्रवृत्ति कुछ-कुछ मध्यकाल में ही आरम्भ हो गई थी। आजकल हिंदू और मुसलमान, साहित्यिक और साधारण जन-समाज सभी के व्यवहार की भाषा खड़ी बोली है। पर उसके तीन रूप हैं, (१) शुद्ध हिंदी—जो साहित्यिक भाषा है। (२) उर्दू—मुसलमानों में प्रचलित खड़ी बोली; यह साहित्यिक तथा बोलचाल दोनों की भाषा है और अरबी लिपि में लिखी जाती है। (३) हिंदुस्तानी—यह साधारण जनसमाज में बोली जाती है। इसमें हिन्दी-उर्दू दोनों के शब्द प्रयुक्त होते हैं। यों भी कह सकते हैं, कि शुद्ध हिंदी और उर्दू की खाई हिन्दुस्तानी में आकर पट जाती है।

इस प्रकार आजकल हिंदीभाषी प्रांतों में खड़ी बोली का ही साम्राज्य है और हिंदी कहने से उसी का बोध होता है। समाचार-पत्र और प्रेस के इस युग ने हिन्दी की उन्नति में बहुत बड़ा भाग लिया है। वर्तमान हिंदी की उन्नति में पाश्चात्य विद्वानों और मिशनरियों का भी उसी प्रकार योग है, जिस प्रकार मध्यकाल में मुसलमानों का सहयोग था। इसके अतिरिक्त इस काल के साथ-साथ भारत में एक-राष्ट्रीयता का भाव क्रमशः दढ़ा है, उसने हिन्दी भाषा की सेवा करने के लिए भारत के अन्यान्य प्रांत के लोगों को भी उत्साहित किया है। क्योंकि एक-राष्ट्रीयता के भाव को दृढ़

करने के लिए लोगों को एक राष्ट्रभाषा की आवश्यकता महसूस हुई। तथा सब लोगों ने हिन्दी को ही राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किया।

जब से हिन्दी को राष्ट्रभाषा रूप से स्वीकार किया गया है तब से उसकी उन्नति दिन दूनी, रात चौगुनी हो रही है और उसकी गति देखते हुए यह आशा होती है कि अदूर भविष्य में उसका साहित्य भारत की अन्यान्य भाषाओं से भी अधिक परिपूर्ण और महत्त्व का हो जायगा। आज हिन्दी में लेखकों, कवियों और विद्वानों की कमी नहीं है। जनता का सहयोग उसे पूरी तरह प्राप्त है। लोग हृदय से हिन्दी का स्वागत करते हैं, न केवल हिन्दी-भाषी प्रांतों में बल्कि दूसरे प्रांतों में भी। विश्वविद्यालयों ने उच्च से ,उच्च कक्षा में हिन्दी के पठन-पाठन की सुविधा कर दी है। जर्मनी और फ्रांस के विश्वविद्यालयों से हिन्दी पर निबन्ध लिखकर उच्चतम उपाधियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। हिन्दी-लेखकों की कृतियों के अनुवाद अंग्रेज़ी और जापानी भाषा में होने लगे हैं। कहने का मतलब इतना ही है कि हिन्दी उपेक्षा के निम्नस्तर से ऊँची उठ गई है। देश-विदेश में उसका आदर और सम्मान होने के साधन मौजूद हैं। तथापि हमें यह कहते हुए दुःख होता है कि सरकार की ओर से जैसा चाहिए वैसा सहयोग हिन्दी की उन्नति में प्राप्त नहीं हो रहा है। जनता की इतनी रुचि देखकर भी वह हिन्दी के प्रति अपनी तटस्थता की नीति पर ही स्थिर है। हिन्दी ने सरकारी क्षेत्रों में जो कुछ प्रवेश पाया भी है वह भी अपने प्रयत्न से। सरकार ने अपने संरक्षण का हाथ स्वतः उसकी ओर बढ़ाने की कभी कृपा नहीं की।

उर्दू यद्यपि प्रचलित हिन्दी का ही एक प्रकार है, पर लिपिभेद

के कारण, तथा अरबी और फारसी भाषा के शब्दों का बाहुल्य होने से वह भारतीयों के लिए अनुकूल नहीं पड़ती। उर्दू को अदालती कार्य जैसे सर्वसाधारण के कामों में व्यवहृत किये जाना, चाय के पहाड़ी पौधे को मैदान में उगाने का हठ करने के समान है। उर्दू ने कुछ मौलिक भेदों के कारण हिन्दी से अपने आपको पृथक् कर लिया है। उसकी रक्षा न की जाय, ऐसा हम नहीं कहते। वह रहे, और उसके मौलिक भेदों की रक्षा के लिए अगर आवश्यकता हो तो नवीन साहित्य भी निर्माण किया जाय, पर भारत में सार्वजनिक कार्यों में उपयोग में आने के लिए हिन्दी को ही मुख्य स्थान दिया जाना चाहिए। इंगलैंड में भी फ्रैंच पढ़ लिख और बोल लेने वालों की संख्या कम नहीं है, पर सर्वसाधारण के कामों में फ्रैंच का व्यवहार कितना कष्टकर होगा इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

इस प्रकार हम अन्त में इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आजकल हिन्दी-भाषा राष्ट्रभाषा के स्थान पर आसीन हो जाने के कारण दिन-दिन उन्नति कर रही है। जनता ने उसे वह आसन प्रदान कर दिया है जिसके वह वास्तव में योग्य है। हिन्दी की उन्नति का अन्दाज़ उसके समाचारपत्रों तथा प्रकाशित होने वाली पुस्तकों से लगाया जा सकता है, जिनकी संख्या दिन-दिन बढ़ रही है। सरकार का भी कर्त्तव्य है कि वह हिन्दी की उन्नति में जनता और देश का साथ दे।

मुद्रणयन्त्र का आविष्कार और विकास

जिस यन्त्र से पुस्तकें और समाचारपत्र आदि छापे जाते हैं उस यन्त्र का नाम मुद्रणयन्त्र है। नई दुनियाँ ने बहुत से महत्त्वपूर्ण आविष्कार किये हैं। उन आविष्कारों से दुनियाँ का रूप ही बदल गया है। उन सब में भी यदि किसी आविष्कार को सब से अधिक महत्त्व दिया जा सकता है तो वह यही मुद्रणयन्त्र है। तुम्हें आश्चर्य हो सकता है कि रेडियोफोन और टेलीविज़न आदि से भी मुद्रण-यन्त्र के आविष्कार का महत्त्व अधिक क्यों है? तार, बिजली अथवा हवाई जहाज़ों के आविष्कार को क्यों न वह महत्त्व दिया जाय? यह ठीक है कि ये दूसरे आविष्कार बहुत विचित्र हैं, इनमें छापे की कल के आविष्कार से कहीं अधिक सूक्ष्म बुद्धि और गहन विचारों का उपयोग हुआ है, लेकिन तो भी मुद्रणयन्त्र की महिमा सर्वसम्मत है।

मुद्रणयन्त्र के आविष्कार के इस महत्त्व का कारण स्पष्ट है, और वह यह है कि पहले विचारों के प्रचार के साधन उपलब्ध नहीं थे। अगर किसी के ध्यान में कोई नई सूझ आती भी तो वह उसी के पास रह जाती थी। दूसरे लोग उसकी सूझ से लाभ नहीं उठा सकते थे। इसलिए अनुसन्धान का कार्य आगे बढ़ता ही न था। साथ ही अपनी नवीन सूझ के लिए कहीं से प्रोत्साहन और आदर न पा सकने के कारण विचारशील और अनुसन्धानप्रिय उर्वर मस्तिष्क भी हताश हो जाते थे। आजकल जहाँ कोई नई

बात सूझी कि वह इस छापेखाने की सहायता से संसार के कोने-कोने में पहुँच जाती है। उसमें समस्त संसार की बुद्धि लग सकती है, और उस दिशा की ओर अधिक से अधिक छानबीन होने का अवसर रहता है। पहले हम अपने देश और प्रान्त के लोगों तक भी अपने विचारों का प्रचार नहीं कर पाते थे, और न उनका सहयोग प्राप्त कर सकते थे, अब सारी दुनियाँ के देश हमारे ज्ञात-रूपी शिशु के क्रीड़ास्थल हैं। दूसरा कारण यह भी है कि इस आविष्कार के हो जाने से यह भय नहीं रह गया कि एक बार ज्ञात हुई बात कभी भूल जायगी। एक प्रति के खो जाने या नष्ट हो जाने से कोई ज्ञात विषय विस्मृत भी हो सकता है पर जब हज़ारों प्रतियाँ छपती हों तो उस बात के विस्मृत होने की संभावना नहीं रह जाती। कहीं न कहीं वह सदा मिल सकती है। तीसरे इस आविष्कार ने लोगों को अधिकाधिक संख्या में साक्षर और शिक्षित होने में मदद दी है। प्राचीन काल में पुस्तकें अलभ्य वस्तु थीं। इसलिए शिक्षा का प्रचार कभी इस प्रकार सार्वजनिक नहीं हो सका था। आज प्रेस की सहायता से अमीर-गरीब सभी एक एक आने में अक्षरबोध खरीदकर अपने बच्चों को दे सकते हैं।

यों तो अधिकांश आविष्कारों का श्रेय पाश्चात्य देशों को है, और बात भी ऐसी ही है कि पाश्चात्य देशों ने ही आधुनिक विज्ञान को वर्तमान रूप दिया है। यही बात मुद्रणयन्त्र के संबंध में भी कही जा सकती है। इसका भी आधुनिक ढंग से आविष्कार और विकास यूरोप की भूमि में ही हुआ है। तथापि लोगों का अनुमान है कि मुद्रणयन्त्र का पहले पहल आविष्कार चीन देश में हुआ था। लेकिन यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि वहाँ यह कला अपने शैशव रूप में ही थी। आजकल जैसी सफलता उसे प्राप्त नहीं हुई थी।

एसीरिया और बेबीलोन में भी ईंटों पर अक्षर खोदकर छापने का काम होता था। इसके उपरान्त लकड़ी पर अक्षर खोद कर उससे छापने का काम लिया जाने लगा। पर सच पूछा जाय तो मुद्रण-यन्त्र की सफलता पूर्वीय देशों में कहीं नहीं हुई। उस समय लोगों ने काठ पर अक्षर खोद कर छापने से सरल विधि का विचार भी शायद नहीं किया था।

अन्त में यूरोप के लोगों का ध्यान इस ओर गया। अब देखना यह है कि यूरोप के किस देश ने पहले-पहल छापे का यन्त्र निकाला। इस संबंध में लोगों की राय भिन्न-भिन्न हैं। कुछ लोग इसका श्रेय जर्मनी को देते हैं और कुछ हालैंड को। कई कारणों से हालैंड को इस आविष्कार का श्रेय मिलना चाहिये।

कहा जाता है कि हालैंड के कोस्टर नामी एक मनुष्य ने हारलेम नगर में पहले पहल एक पेड़ की छाल पर अक्षर खोद कर उससे किसी दूसरी चीज़ पर छापना आरम्भ किया। बाद में उसने प्रत्येक अक्षर के लिए सीसे का ठप्पा बनाया और कागज़ पर छापना शुरू किया। उसके छापेखाने के कुछ कार्यकर्ता हालैंड से जर्मनी चले गये और कहा जाता है कि वे अपने साथ कुछ टाइप भी चुराकर लेते गये। जर्मनी में इस मुद्रणप्रणाली को प्रचलित करने का श्रेय गर्टनबर्ग नामक मनुष्य को है। उसने भी पहले-पहल काठ पर अक्षरों को खोद कर अपना कार्य आरम्भ किया था। कोस्टर और गर्टनबर्ग दोनों के आविष्कारों का समय सन् १४३६ से १४३९ के अन्तर्गत है। इनके बाद धीरे-धीरे यूरोप के अन्यान्य देशों में भी मुद्रणकला का विस्तार होने लगा और मुद्रणयन्त्र का भी विकास होता गया।

सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ होते-होते जर्मनी के लोगों ने

इस ओर विशेष ध्यान देना शुरू किया। तभी से वहाँ वाले इस कला में निरन्तर उन्नति करते गये। शेफर और स्टोनहोप नामक चतुर और कार्यशील कारीगरों के प्रयत्न से छापने के लिए वहाँ लोहे का यन्त्र बना और धातु के अक्षर ढालने का भी काम आरम्भ हुआ। कहना यह है कि मुद्रणयन्त्र के वर्तमान विकसित रूप का आभास यहीं से मिलता है। धीरे-धीरे इसमें और भी अनेक सुधार होते रहे। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में भाप की शक्ति की सहायता से एक ऐसा मुद्रणयन्त्र तैयार किया गया जिस में समाचारपत्र की दो हजार प्रतियाँ एक ही घंटे में छपने लगीं। कुछ समय बाद भाप का स्थान विद्युन् ने ले लिया। जब विद्युत् की सहायता से छापने की कल संचालित होने लगी तब तो सोलहपेजी समाचारपत्र की पचपन हजार प्रतियाँ तक प्रति घंटे छपने लगीं। यही नहीं अभी तक बराबर इसमें सुधार हो रहे हैं। इसके प्रत्येक अंग को सांगोपांग और पूर्ण किया जा रहा है। वैज्ञानिक को अभी तक इसके विकास से पूर्ण संतोष नहीं हुआ है। अबतक ढले हुए टाइप काम में लाये जाते थे। कंपोजीटरों को उन्हें यथास्थान लगाना और छप जाने के बाद फिर डिस्ट्रिब्यूट करना—उनके नियत खानों में डालना पड़ता था। इधर लीनोटाइप की मशीन के आविष्कृत हो जाने से इसकी भी आवश्यकता नहीं रही। अब अक्षरों का ढलना और छापना एक साथ होता जाता है। हिंदी लीनोटाइप-यन्त्र बनाने में बड़ी कठिनाई पड़ रही थी। कारण कि देवनागरी अक्षरों की एक तो संख्या बहुत है। फिर मात्राएँ और संयुक्ताक्षर मिलाने से उनकी संख्या और भी अधिक हो जाती है। हर्ष की बात है कि हमारे ही देशवासी श्रीयुक्त हरिगोयल ने उस कठिनाई को हल कर लिया है और उन्होंने लीनोटाइप की ऐसी

मशीन तैयार कर ली है जिससे देवनागरी अक्षरों की छपाई होती है। हिन्दी के एक दो समाचारपत्र भी लीनोटाइप मशीन का उपयोग करने लगे हैं। यदि गुजराती, बँगला और गुरुमुखी लिखने में भी देवनागरी लिपि का प्रयोग किया जाने लगे तो दूसरी लिपियों के लिए पृथक् पृथक् मशीनें बनाने की कठिनाई न प्रतीत होगी और इसी में अधिकाधिक सुधार किये जा सकेंगे।

मुद्रणयन्त्र से संसार का कितना उपकार हुआ है यह बताना कठिन है। इसके अभाव में संसार के लोग कितने सद्ग्रन्थों से अनभिज्ञ थे? हाथ से लिखकर लोग कहाँ तक अपनी पुस्तकों का प्रचार कर सकते थे? आज मुद्रणयन्त्र ने उस कठिनाई को दूर कर दिया है। इसी की बदौलत भारतवर्ष के कालिदास और भव-भूति, कपिल और पतंजलि, व्यास और वाल्मीकि की वाणी का रसास्वादन आज अभारतीयों को भी संभव है। इसी की बदौलत शेक्सपियर और मिल्टन, शेली और कीट्स की विशेषताओं को अंगरेज़ों से इतर लोग भी जानते हैं। इसी की बदौलत वर्जिल और और दान्ते, गेटे और होमर की अमर रचनाओं का आनन्द हर कोई अनायास उठा सकता है। जामी और हाफ़िज़, उमरखैयाम और सादी को बग़ैर फ़ारसी पढ़ा लिखा आज कैसे जानता? कार्लाइल और रस्किन, कांट और नित्शे के विचार-गांभीर्य का आनन्द आज प्रेस की सहायता से सर्वसुलभ है। क्या यह साधारण लाभ है? क्या प्रातःकाल होते ही दो पैसे में दुनियाँ भर के समाचार और विचार विना प्रेस के आविष्कार के कभी पढ़ने को नसीब हो सकते थे? प्रेस ने हमें कुँए से निकालकर अनन्त जगत् में खड़ा कर दिया है। उसने अज्ञान को दूर करके ज्ञान का सूर्य हमारी आँखों के सामने ला दिया है।

जहाँ मुद्रणायन्त्र से अनेक लाभ हुए हैं वहाँ दो चार हानियाँ भी हो रही हैं, पर लाभों का पलड़ा भारी होने से उस ओर किसी का ध्यान नहीं जाता। प्रेस से पहली हानि तो यही हुई है कि लोग मनमानी पुस्तकें छपाने लगे। उत्तम और उपयोगी पुस्तकों के साथ गन्दी और अश्लील पुस्तकों का प्रचार भी संभव हो गया है। इतनी बड़ी तादाद में पुस्तकें निकलने लगी हैं कि अच्छी बुरी का विवेक करना भी कठिन हो रहा है। लोभी और स्वार्थी प्रकाशक रँगीली-चटकीली भाषा में हानिकर अश्लील साहित्य देकर समाज में विष के बीज बोते हैं। इसका परिणाम आज हमारे सामने है। दूसरी हानि प्रेस से यह हुई कि लोग सुन्दर अक्षर लिखने की प्राचीन कला को भूल गए हैं। अब कोई बना बनाकर धीरे धीरे अक्षर लिखने का प्रयत्न नहीं करता। इतना होने पर भी प्रेस के आविष्कार को अन्य तमाम आविष्कारों से अधिक उपयोगी मानना पड़ता है। इसमें दो मत होने की संभावना नहीं है।

हिमालय और उसके लाभ

भारतवर्ष में शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो, जिसने गिरि-राज हिमालय का नाम न सुना हो। पौराणिक गाथाओं में स्थान-स्थान पर इसका वर्णन आया है। जगन्माता पार्वती इसी पर्वतराज की पुत्री मानी जाती हैं। भगवान शिवजी का यही निवास-स्थान है। लगभग सभी प्राचीन और अर्वाचीन कवियों ने इसका कुछ न कुछ वर्णन करके अपनी लेखनी, कल्पना और कृतियों को गौरवान्वित एवं अमर किया है। उत्तर भारत की सब बड़ी-बड़ी नदियों का उद्गम स्थान, प्राचीन काल के अधिकांश तपोधनों की तपोभूमि, अनेकानेक जड़ी बूटियों का भंडार, उम्र में सबसे छोटा किन्तु ऊँचाई में सबसे बड़ा, यह नगाधिराज, संसार की सब जातियों और राष्ट्रों को अपनी आधिभौतिक और आध्यात्मिक विभूतियों से आकर्षित करने वाले भारतवर्ष की उत्तरी सीमा बनाता हुआ पूर्व से पश्चिम तक, ब्रह्म देश से अफ़ग़ानिस्तान तक लगभग १६०० मील लंबा और कहीं कम और कहीं अधिक लगभग १५० मील चौड़ा, गर्वोन्नत मस्तक से खड़ा है। इतिहासकारों ने इसे भारतवर्ष के उत्तरी द्वार का पहरेदार माना है। डाक्टर इक़बाल ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा' में इसी की ओर संकेत करते हुए लिखा है—

"पर्वत जो सब से ऊँचा, हमसाया आसमाँ का।
वह संतरी हमारा, वह पासवाँ हमारा॥"

वास्तव में यह संसार भर के पर्वतों में सबसे ऊँचा है। अफ़गानिस्तान का कुछ भाग, काश्मीर का उपजाऊ प्रदेश, युक्त प्रदेश का समूचा उत्तरी भाग, नैपाल, भूटान, आसाम का उत्तरी भाग और ब्रह्मदेश का कुछ उत्तरी भाग इसके उदार आश्रय में अपना काल-यापन कर रहे हैं। सिन्धु और पंजाब की पाँचों नदियाँ, गंगा, यमुना, गोमती, घाघरा, गंडक, सोन और ब्रह्मपुत्र आदि सभी प्रसिद्ध नदियाँ इसी में से निकली हैं। इस पहाड़ में ऐसे-ऐसे घने जंगल हैं, जिनमें सूर्य की एक किरण तक का पहुँचना संभव नहीं। पार्वत्य प्रदेश में उत्पन्न होने वाले फल और मनुष्य अपने में एक विशेष प्रकार की अनन्यता रखते हैं। स्थान स्थान पर ऐसे प्राकृतिक दृश्य हैं, कि जिन्हें देखकर एक बार तो यह संदेह हो ही जाता है कि क्या स्वर्ग का नन्दन-कानन इनसे श्रेष्ठ होगा? स्वर्गीय पं० श्रीधर पाठक इसे ही देख कर कह बैठे थे—

"कै यह जादूभरी विश्वबाजीगर थैली।
खेलत में खुलि परी शैल के सिर पर फैली॥
प्रकृति यहाँ एकान्त बैठि निज रूप सँवारति।
पल पल पलटति वेश छनिक छवि छिन-छिन धारति॥

× × × ×

यही स्वर्ग सुरलोक यही सुर-कानन सुन्दर।
यहीं अमरन को ओक यहीं कहुँ बसत पुरन्दर॥"

हिमालय पर उत्पन्न होनेवाली वनस्पतियाँ और जड़ी बूटियाँ, केवल भारत के ही नहीं संसार के सभी देशों के मनुष्यों के स्वास्थ्य-वर्धन एवं प्राण-रक्षण का पुनीत कार्य कर रही हैं।

इसके सोनों का जल स्वास्थ्यवर्धक है। इस पर उत्पन्न होने वाले फल, संसार के किसी भी देश के फलों से, मधुरता तथा मानवशरीर पोषण के प्रधान गुण में ज़रा भी कम नहीं हैं।

इस पर उत्पन्न होने वाले मनुष्यों के सुगठित शरीरावयवों को देख कर प्राचीनकाल के रोम और ग्रीस के तथा भारत के पुरुष-पुंगवों की याद आजाती है। खान-पान एवं आहार-विहार में सादगी, जीवन के पारस्परिक व्यवहार में निष्कपटता, कठिन से कठिन कार्य की सहिष्णुतापूर्वक संपन्न करने की आदत उनके विशेष गुण हैं। और यह तो कौन नहीं जानता, कि हिमालय की घाटियों और बागों में खेले हुए, उसके अन्न, फल और जल के खान-पान से पुष्ट अंगवाले गोरखे संसार की किसी भी समरव्यसनी जाति से शूरवीरता में कम नहीं हैं। हिमालय प्रान्त की देवियाँ सौंदर्य में अप्सराएँ ही हैं—नहीं नहीं यदि यह कहा जाय कि बेचारी अप्सराएँ उनके आगे नगण्य हैं तो ज़रा भी अत्युक्ति न होगी। उनमें से अधिकांश की आँखें बड़ी और काली, और उनका रंग गोरा होता है तथा उनके जीवन में स्थायित्व का गुण पर्याप्त मात्रा में देखा जाता है। कादम्बरी-कार महाकवि बाण भट्ट की 'महाश्वेता' इन्हीं में से एक थी।

हिमालय के किसी भी भाग में चले जाइए, प्राकृतिक दृश्य एक से एक सुन्दर दिखाई देंगे। काश्मीर की घाटियाँ अपनी नैसर्गिक सुन्दरता में अद्वितीय हैं। शिमला, नैनीताल, दार्जिलिंग, मसूरी आदि स्थान अपनी रमणीयता के कारण प्रति वर्ष भारतीय तथा प्रांतीय सरकारों को आकर्षित करते हैं। ग्रीष्मावकाश में कितने ही यात्री वहाँ पहुँचते हैं। हरिद्वार में 'हर की पौड़ी' पर या किसी मन्दिर के सर्वोच्च भाग पर चढ़ कर चारों ओर दृष्टि दौड़ा

कर देखिए, कि जो दृश्य आपको दिखाई देता है, वह अलौकिक और वर्णनातीत है, या नहीं ? प्राचीन कवियों ने अपने काव्यों में स्थान-स्थान पर इस गिरि-राज के सुन्दर दृश्यों का जो वर्णन किया है, वह यदि विस्तृत रूप से लिखा जाय, तो एक बड़ा ग्रन्थ सहज ही तैयार हो सकता है। कविकुल-चूड़ामणि कालिदास का ऐसा एक भी काव्य या नाटक ग्रन्थ नहीं है, जिसमें उसका एक न एक पात्र उसके आदि, मध्य या अन्त में, हिमालय की उपत्यका में, या उसके किसी शिखर पर, या उससे उद्गत और उसी में से प्रवाहित होने वाली किसी पयस्विनी के तीर पर, मोक्ष-प्राप्ति के लिए साधन करता हुआ, या अपने शत्रुओं का दर्प-दमन करने के लिए अथवा विश्व-विजय करने के लिए उग्र तपस्या करता हुआ, अथवा अपनी प्रेयसी के साथ बिहार करता हुआ, न पाया जाता हो। हिमालय के पार्वत्य मार्ग में से जाते समय ऐसा मालूम पड़ता है, कि अब इस ऊँचे पर्वत के बाद चढ़ाई नहीं आएगी, पर उस पर्वत के उच्च शिखर पर पहुँचने पर एक दूसरा ऊँचा पवत दिखाई देता है। इसमें गौरीशंकर, काँचनजंघा और धवलगिरि तीन उच्च शिखर कहे जाते हैं। गौरीशंकर की ऊँचाई २६००२ फुट है। वहाँ पर सदा बर्फ पड़ी रहती है। अनेक देशी और विदेशी साहसिकों ने इस पर चढ़कर अनेक बार अपनी विजय का झंडा गाड़ना चाहा है, परन्तु अब तक सबको असफल होना पड़ा है।

यहाँ तक गिरिराज हिमालय के विषय में जो कुछ लिखा गया है, उसमें उसके वर्णन के साथ-साथ उससे होने वाले लाभों का भी किंचिन्मात्र अप्रत्यक्ष दिग्दर्शन करा दिया गया है। अब यह वर्णन समाप्त करने से पहले यह आवश्यक है कि इस गिरि-राज से पहुँचने वाले लाभों का भली प्रकार दिग्दर्शन करा दिया जाय।

प्रथम लाभ तो यह है, कि यह पर्वत अनेक छोटी-बड़ी नदियों का जन्मदाता है। नदियाँ देश की उपज और पैदावार में सहायक होती हैं। यदि भारत के उत्तर में हिमालय न होता, तो न तो भारत के उत्तर में सिंध से लेकर आसाम तक अनेक छोटी बड़ी नदियाँ होतीं और न यह इतना लंबा भूभाग धन-धान्यपूर्ण होता बल्कि मरुस्थल ही रह जाता। साथ ही न इन नदियों और प्रवाहों से उत्पन्न होने वाली तथा आधुनिक कारखानों को चलाने वाली विद्युत शक्ति ही प्राप्त हो सकती।

द्वितीय लाभ हिमालय से यह है, कि यह जलपूर्ण मेघों को तिब्बत की ओर नहीं जाने देता। वे इससे टकराकर अपना जल यहीं बरसा देते हैं और यह जल देश की पैदावार बढ़ाने में सहायक होता है।

तृतीय लाभ इससे यह है, कि इसमें अनेक प्रकार की लकड़ियाँ अनेक प्रकार के पत्थर, अनेक प्रकार के भयंकर पशु, अनेक प्रकार वनस्पतियाँ, अनेक प्रकार की जड़ी-बूटियाँ और अनेक प्रकार की धातुएँ हैं। ये वस्तुएँ भारतवासियों की श्री-वृद्धि करने और उन्हें स्वस्थ और समृद्ध रखने में बहुत ही उपयोगी हैं।

चौथा लाभ इससे यह है कि यह हिन्दुस्तान का उत्तरी पहरेदार है। उत्तर से भारत पर आक्रमण करना किसी भी देश के लिए असंभव है। जो लोग इस विषय में वायुयानों की उपयोगिता पर विश्वास रखते हैं, उन्हें जानना चाहिए, कि वायुयान तराई और नैपाल जैसे स्थानों पर आक्रमण कर सकने में ही उपयोगी हो सकते हैं। भविष्य की कह नहीं सकते, आजतक तो यह पर्वतराज दुर्जेय ही रहा है। हाँ यह बात अलग है, कि इसके शरणागतों के पास वर्तमान विज्ञानाविष्कृत युद्धोपकरण न हों और वे युद्ध-कला में पारंगत न हों।

पाँचवाँ लाभ इस गिरि-राज से यह है, कि इसमें अनेक स्वास्थ्यवर्धक, सुन्दर और तीर्थ स्थान है। स्वास्थ्य-वर्धक स्थानों पर निवास करके लोग नीरोगता प्राप्त करते हैं। सुन्दर और रमणीय स्थानों को देखकर तथा वहाँ रहकर लोग मानसिक आनन्द प्राप्त करते है। तीर्थ स्थानों की यात्रा करके अनेक श्रद्धालु और धर्मात्मा लोग आत्मिक शांति प्राप्त करते हैं—नहीं नहीं अपने विश्वास के अनुसार पूर्वजन्म के और इस जन्म के पापों से मुक्त हो कर आवागमन के झंझट को दूर करते हैं।

छठा और सबसे बड़ा लाभ हिमालय से जो भारत को प्राप्त हो रहा है वह है भारतीयों की मानसिक और आध्यात्मिक भूख की शान्ति। हज़ारों वरसों से तपोधन आर्य लोग इस पर्वतराज की गोद में बैठकर अपनी वासनाओं पर विजय प्राप्त कर मुक्ति प्राप्त करते रहे हैं। प्राचीन कवियों से लेकर आजतक के कवि इस पर्वत-राज के उच्च शिखरों से प्रतिभा प्राप्त कर अपनी कल्पना की उड़ान उतनी ही ऊँची उड़ाते हैं। उन तपोधनों के अनुभवों, दार्शनिकों के उच्च विचारों और कवियों की रम्य कविताओं से भारतीय अपने मन की और आत्मा की क्षुधा को शांत करते रहते हैं। सारांश यह कि पर्वतराज हिमालय हमारा पहरेदार हैं, हमें स्वास्थ्य तथा शारीरिक शक्ति देनेवाला है, हमारी खेती और व्यवसायों को चलाने वाला है, सब से बढ़कर हमारे मन और आत्मा को संतुष्ट और पवित्र करने वाला है। इसके उपकारों से भारतीय कभी उऋण नहीं हो सकते। इसके उन्नत शिखर के सामने वे सदा सिर नवाते रहेंगे।

प्रातःकाल का उठना

क्या आप इस संसार में सफल मनुष्यों की श्रेणी में परिगणित होने के अभिलाषी हैं ? क्या आप चाहते हैं, कि आपके जीवन में ऐसे अवसर या तो आएँ ही नहीं, या यदि आएँ भी तो बहुत ही कम, कि जब, किसी कार्य में घोर परिश्रम करने पर भी, आपको सफलता प्राप्त न हो ? क्या आपके हृदय में कोई महत्त्वाकाँक्षा है ? और क्या उस महत्त्वाकाँक्षा को पूर्ण करने के लिए आप प्रतिकूल परिस्थितियों से अविराम संघर्ष करते रहने पर भी असफल ही होते रहते हैं ? और क्या आप यह जानना चाहेंगे, कि आप सरलता-पूर्वक अपने संकल्प किस प्रकार पूर्ण कर सकते हैं। यदि हाँ, तो मैं दृढ़तापूर्वक यह कहना चाहता हूँ, कि आप, यथासंभव प्रातःकाल जल्दी उठने की आदत डालिये। संसार में दीर्घायु प्राप्त करने वाले ऐसे व्यक्ति कम हुए हैं, और प्रसिद्धि प्राप्त करने वाले ऐसे व्यक्ति तो बहुत ही कम—नहीं के ही समान—हुए हैं, जो प्रातःकाल उठने के आदी नहीं थे। यदि लोग विलंब से उठते हैं तो स्वाभाविक ही उन्हें अपना हरेक काम विलंब से करना पड़ता है, और फिर हर एक बात में तमाम दिन गड़बड़ रहती है।

प्रत्येक धर्म, देश और जाति के महापुरुषों ने प्रातःकाल उठने की प्रशंसा मुक्तकंठ से की है। वे सब लोग, जो अन्य बातों में एक दूसरे के घोर विरोधी हैं, इस विषय पर निरपवाद रूप से एकमत हैं।

फ्रेंकलिन का कहना है, कि जो व्यक्ति देर से उठता है, वह तमाम दिन घोर परिश्रम करते रहने पर भी, रात्रि तक अपना कार्य पूर्ण नहीं कर पाता। डान स्विफ़्ट कहता है कि उसने किसी ऐसे आदमी का नाम नहीं सुना, जो सूर्य चढ़ने तक बिस्तरे पर पड़े रहने की आदत रखते हुए भी महत्ता और प्रसिद्धि प्राप्त करने में समर्थ हुआ हो।

बफ़न नामक एक महाशय प्रसिद्ध अंग्रेज़ी लेखक हो चुके हैं। उन्होंने अंग्रेज़ी भाषा में अनेक ग्रंथों का प्रणयन किया है। किंतु उनके ग्रंथों का इतिहास बड़ा मनोरंजक है, और उनके ग्रंथों के लिखे जाने का सारा श्रेय इसी 'शीघ्र उठने की आदत' को है। वे कहते हैं, कि युवावस्था में मैं देर तक सोते रहने का बड़ा शौक़ीन था। मेरी इस आदत ने मुझ से मेरा बहुत सा समय लूट लिया। लेकिन मेरे नौकर जोसेफ़ ने इस आदत को मेरे वश में लाने में मुझे बहुत सहायता दी। मैंने जोसेफ़ को वचन दिया कि यदि वह मुझे दिन के छः बजे उठा दिया करेगा तो मैं प्रतिदिन उसे एक क्राऊन पुरस्कार दूँगा। अगले दिन प्रातःकाल वह मुझे उठाने में चूका नहीं, पर उसे सिर्फ़ गाली मिली। दूसरे दिन भी उसने यही किया, पर उसे कुछ सफलता न मिली। तब मैंने उससे कहा, कि वह अपना काम करने का ढंग नहीं जानता। उसे चाहिए था; कि वह मेरे वचन का ध्यान रखे और मेरी धमकियों एवं गालियों की परवाह न करे। अगले दिन उसने बल-प्रयोग किया। मैं बहुत क्रुद्ध

हुआ। मैंने उसे गालियाँ दीं, पर जोसेफ़ मुझे उठाने पर तुला रहा, और उठा कर ही माना। इस प्रकार वह प्रतिदिन पुरस्कृत होता रहा। मैं अपने दस-बारह ग्रंथों के प्रणयन के लिए उस जोसेफ़ का अत्यन्त ऋणी हूँ।

प्रशिया के द्वितीय फ्रेडरिक ने सख्त आज्ञाएँ दे रक्खी थीं, कि प्रातःकाल के चार बजे के बाद उसे कभी भी न सोने दिया जाय। रूस का पीटर महान कहा करता था, कि मैं अपने जीवन को यथा-संभव बढ़ाना चाहता हूँ और इसीलिए यथासंभव कम सोना चाहता हूँ।

इन्हीं महापुरुषों के अनुभवों के कारण अंग्रेज़ी में यह उक्ति प्रसिद्ध है:—

"Early to bed and early to rise
Makes a man healthy, wealthy and wise."

अर्थात् जल्दी सोना और जल्दी उठना मनुष्य को नीरोग, धनी और बुद्धिमान बनाता है।

अब तक तो हमने पाश्चात्य महापुरुषों का मत लिखा है। अब हम अपने भारतीय महापुरुषों के विचार लिखते हैं।

किसी भी पुराण को, किसी भी शास्त्र को, किसी भी स्मृति को और किसी भी नीतिग्रंथ को आप उठाकर देख लीजिये। सभी में प्रातःकाल उठने के अनेकानेक लाभ वर्णित पाइएगा। प्रत्येक वैद्यक ग्रंथ में भी प्रातःकाल के समय शय्या त्यागने को बहुत ही स्वास्थ्यप्रद कहा गया है।

"ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत स्वस्थो रक्षार्थमायुषः।
तत्र दुःखस्य शान्त्यर्थं स्मरेद्धि मधुसूदनम्॥"

उपर्युक्त श्लोक वैद्यक के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भावप्रकाश' का है।

इसका अर्थ यह है, कि स्वस्थ मनुष्य को चाहिए, कि वह अपने जीवन की रक्षा के लिए ब्राह्ममुहूर्त में अर्थात् चार घड़ी तड़के उठ जाय और दुःख-नाश के लिए भगवान का भजन करे। भारत के साम्राज्य-संस्थापक, और कूटनीतिज्ञ चाणक्य ने निम्नलिखित श्लोकार्ध में कहा है, कि—

"सूर्योदये चास्तमिते शयानं विमुंचते श्रीर्यदिचक्रपाणिः ॥"

अर्थात् सूर्योदय और अस्त के समय सोनेवाले को, चाहे वह चक्रधारी विष्णु ही क्यों न हो, लक्ष्मी छोड़ देती है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है, कि आखिर सूर्योदय से पहले उठने में ऐसा कौन-सा जादू है, जो प्राच्य और पाश्चात्य महापुरुष उसकी प्रशंसा करते हैं।

इस प्रश्न पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार भी किया गया है। भारतीय और भारतीयेतर वैद्यक ग्रंथों में लिखा है कि सूर्योदय से कुछ पहले के समय की हवा वहुत मनोरम और नीरोगताप्रद होती है। यदि कहा जाय, कि स्वास्थ्य के लिए अमृत-तुल्य होती है। तो ज़रा भी अत्युक्ति न होगी। भारतीय वैद्यक ग्रन्थों में उस समय को अमृतवेला कहा है। उस समय की हवा खून को साफ़ करती है। उसकी गति को तीव्र करती है। उस समय मस्तिष्क तरोताज़ा एवं हलका रहता है, इसलिए उस समय किसी भी विषय पर विचार करने के पश्चात् जो निर्णय किया जाता है, वह अधिकाधिक निर्दोष होता है। उस समय मनुष्य अपने शरीर में एक विशेष प्रकार की फुर्ती अनुभव करता है। विद्यार्थियों को अपना पाठ उस समय वहुत जल्दी याद हो जाता है, और फिर सरलता से भूला नहीं जाता।

एक बार आप चार बजे उठकर देखिए। आपको पता

लगेगा, कि आप स्वर्गीय आनन्द उपभोग कर रहे हैं। शय्या त्याग कर मुखमार्जन और दन्त-मंजन आदि से निवृत्त होकर अपनी छत, किसी बाग़ या सड़क पर टहलिये, उस समय आप अनुभव करेंगे, कि आप में गत रात्रि को सोने से पहले की अपेक्षा अधिक उल्लास, अधिक उत्साह, अधिक कर्मण्यता, अधिक स्फूर्ति, अधिक कर्तृत्व-शक्ति और अधिक मानसिक एवं शारीरिक बल है। यदि गतरात्रि को आप किसी मानसिक चिंता से चिंतित थे, तो आज महसूस करेंगे, कि आप कुछ समय के लिए बिलकुल निश्चिंत हैं।

इसके विपरीत आप एक बार सूर्योदय के बाद सात, आठ या नौ बजे उठिये। सब से पहले तो नींद उड़ जाने पर और आँखें खुल जाने पर भी बिस्तरे पर ही लेटे-लेटे करवटें बदलते रहने की और शय्या न त्यागने की आपकी इच्छा होगी। आपको पता लगेगा, कि आप में चिड़चिड़ापन है। आपके अंग प्रत्यंग बिलकुल बलहीन एवं ढीले हैं। किसी भी काम के करने को आपका जी नहीं चाहता है। आप में उल्लास नहीं के बराबर है। आप में उत्साह का पर्याप्त-रूपेण अभाव है। आपकी कर्मण्यता का दिवाला निकल चुका है। स्फूर्ति आपसे संबंध-विच्छेद कर चुकी है। कर्तृत्वशक्ति आप से असहयोग कर चुकी है। सारांश यह है कि न तो आपका शरीर आपके अधिकार में है, और न आपका मस्तिष्क ही। आपके हाथ-पैर के मुक्त रहते हुए भी आप किसी बन्धन से बँधे हुए हैं। भला यह कितने दुःख का विषय है, कि बिना किसी प्रकार के रोग से ग्रस्त हुए, आपकी ऐसी दशा हो जाय, कि आप अपनी प्रबल इच्छा होते हुए भी कोई कार्य अपनी इच्छानुसार न कर सकें। इन सब कमज़ोरियों का कारण देर से उठना

है। अतः यदि आप उस पर विजय पाना चाहते हों तो प्रातःकाल उठने की आदत डालिये।

यदि आप प्रातःकाल उठने का लाभ समझ गये हैं, और सदा प्रातःकाल उठने का पक्का इरादा कर चुके है, तो आपको हम यह कह देना चाहते हैं, कि अभ्यासी के लिए यह कार्य प्रारंभ में कुछ कठिन अवश्य है। किन्तु आपको चुन लेना होगा, कि प्रातःकाल उठने की आदत डालने की कठिनता तथा उससे होने वाले लाभ—इन दोनों में से कौन श्रेष्ठ है? किसी भी कार्य वा किसी भी आदत को केवल कठिन होने के कारण ही छोड़ देने से तो काम नहीं चलेगा।

जल्दी उठने के लिए यह नितांत आवश्यक है, कि आप शीघ्र ही सो जाएँ। प्रकृति ने अपने अनिवार्य नियमानुसार हमारा निर्माण ही इस प्रकार किया है कि हम मध्य रात्रि के पूर्व ही विश्राम करने चले जाएँ। डाक्टर डाइट अपने विद्यार्थियों से कहा करते थे, मध्यरात्रि के पहिले की एक घंटे की नींद बाद के दो घंटों की नींद के समान है। इसलिए आप ठीक दस बजे सो जाएँ। ऐसी दशा में आप पाँच बजे आसानी से उठ सकेंगे, और आपको किसी भी प्रकार यह आदत डालनी चाहिए।

———

वसन्त ऋतु

कवियों ने वसन्त को ऋतुराज कहा है। यह उपमा इस कदर पूरी उतरती हैं, कि विशेष कुछ कहने की ज़रूरत नहीं रह जाती। वसन्त का वैभव राजाओं का सा ही है। फूलों का मुकुट पहनकर जब वह आता है तो कौन उसे राजा नहीं मानता? कोयल आम की डाल पर बैठ कर जब मतवाली होकर गाती है तो इसके सिवाय कुछ मन में आता ही नहीं कि वह प्रकृति-रानी को उसके प्रियतम ऋतुराज के आने की सूचना दे रही है। रात ही रात में दुनियाँ बदल जाती है। नई-नई स्निग्ध कोमल कोंपलें लता और वृक्षों को ढक लेती हैं। आम मंजरी से लद जाते हैं और इस प्रकार झूमने लगते हैं मानों ऋतुराज के ऊपर चँवर डुला रहे हों। वन और उपवन राजमहलों की तरह श्री और शोभा सम्पन्न हो जाते हैं। फूलों की सुगन्ध और मकरन्द का इत्र सब जगह छिड़क दिया जाता है। ऋतुराज के भरे दरबार का एक बार भी दर्शन कर लेने वाले जीवन भर अपने को कृतार्थ मानते हैं।

यों तो वसन्त ऋतु के महीने चैत्र और वैशाख माने जाते हैं। वास्तव में अत्यन्त प्राचीन काल में इन्हीं महीनों में वसन्त का आगमन भी होता था, पर कालक्रम से इधर सूर्य और पृथ्वी की स्थिति में बहुत अन्तर पड़ गया है। यह तो सबको मालूम ही है कि ऋतु-परिवर्तन सूर्य और पृथ्वी के स्थिति-भेद से ही होता है।

यदि सदा उनकी एक-सी स्थिति रहती तो ऋतु कभी न बदलती। लेकिन उनकी स्थिति एक क्षण के लिए भी स्थायी नहीं है, और सदा बदला करती है। फल यह हुआ है कि प्राचीन काल में जहाँ वसन्तारंभ चैत्र के शुरू में होता था वहाँ पर अब वसन्तपंचमी से ही हो जाता है। अब वसन्त ऋतु यथार्थ में आधे चैत्र तक रहती है।

इस समय सूर्य काफी दूर तक उत्तरायण में आ जाता है। उसकी किरणें उत्तरी भूमंडल पर पहले से अधिक सीधी पड़ने लगती हैं। शीत की कठोरता कम हो जाती है। ग्रीष्म की विकरालता भी तब तक नहीं आने पाती। हिमालय की उत्तरी शीतल शुष्क हवाओं का चलना बंद हो जाता है। उनके स्थान पर शीतल-मन्द-सुगन्ध दक्षिण समीर का संचार होने लगता है। मज़े का मौसम होता है। न बहुत शीत, न बहुत उष्ण। अत्यन्त शीत से गाढ़ा हुआ रक्त नाड़ियों में फिर से संचालित होने लगता है। जाड़े की लंबी लंबी रातों और छोटे छोटे दिनों में ठिठुरी हुई दुनियाँ अब शीत से त्राण पाकर अँगड़ाई लेने लगती है। प्रकृति भी लंबी निद्रा के बाद आँखें खोलती है। हिमाहत हरियाली में भी नवीन रस का संचार होने लगता है। वसन्त पंचमी के आते-आते ऋतु में इस प्रकार परिवर्तन दिखाई देने लगता है। प्राकृतिक शोभा से माता वसुन्धरा का वक्षःस्थल दर्शनीय हो उठता है।

वसन्तऋतु में ज़रा अपने घर की चहारदीवारी से बाहर चले जाइये। दुनियाँ ारी और गृहस्थी के झंझट से थोड़ी सी फुरसत निकाल कर कुछ देर के लिए प्रकृति के आँगन में सैर कर आइये। आहा ! ी शोभा है! कैसा आह्लाद है ! कैसा उन्माद है! कैसी र णीयता है ! कितनी सुषमा है ! नाना प्रकार के फूल खिले

हैं! उनके रूप-रंग का तो कहना ही क्या? कोई नीला है, कोई गुलाबी है, कोई बैंगनी है, कोई चंपई है, कोई केसरिया है, कोई एकदम लाल है। आम की मंजरी और तरह तरह के फूलों को स्पर्श करके, उनकी भीनी सुगन्ध के भार से लदी हुई, जो मन्द बयार धीरे-धीरे चल रही है, उसमें कितनी मादकता है? तभी तो कोयल अधीर होकर गा रही है। सौरभ ने भौंरों और मधुमक्खियों को उन्मत्त बना दिया है। वे मधुर-मधुर भीनी-भीनी गुंजार करते हुए फूलों के रस का पान कर रहे हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि प्रकृति के रोम-रोम से संगीत की स्वर-लहरी फूट पड़ती है। भाँति भाँति के पक्षियों से वन उपवन मुखरित हो उठे हैं। प्रकृति के महोत्सव के सुन्दर समय में उनके कल-कंठ और भी रसीले हो गए हैं। जंगली पशुओं के स्वच्छन्द विचरने की इच्छा वलवती हो गई है। प्रकृति के रंगबिरंगे परिधान में वे कभी छिपते, कभी प्रकट होते, और कभी क्रीड़ा करते हुए दिखाई पड़ते हैं। प्रातःकाल सूर्य भी नई शोभा को लेकर निकलता है। चाँदनी मस्ती बरसाने लगी है। तारागणों में सदा से अधिक मनोहारिता आ गई है। दिन और रातें दोनों ही समसुखद हो गए हैं। कहाँ तक कहा जाय, जड़ और चेतन सभी में एक प्रकार की अपूर्व विलक्षणता का समावेश हो गया है। सब में जीवन-धारा अबाधगति से प्रवाहित होने लगी है। सूखे ठूँठ लहलहा उठे हैं मुर्दों में प्राण का संचार हो गया है। जीवन और स्पन्दन स्फूर्ति और सजगता से चारों दिशाएँ भर गई हैं।

ऐसे समय मनुष्य का तो पूछना ही क्या? वह तो सब से बड़ा सौंदर्योपासक है। उसका हृदय तो इस समय बाँसों उछलने लगता है। यह सुहावना काल उसे इस क़दर प्रिय है कि उसने इसे अपने

साहित्य में सुरक्षित कर रक्खा है। वसंत जैसा विस्तृत, विशद और सांगोपांग वर्णन और किसी काल का नहीं मिलता। चित्रों में वसन्त है। काव्यों में वसन्त है। गीतों में वसन्त है। कहाँ तक कहें, वसन्त को जीवन में भर रखने के लिए मनुष्य का अधिक से अधिक प्रयत्न हुआ है। यह सब इसीलिए कि उसकी अपूर्व छटा ने उसके हृदय को विमोहित कर लिया है। उत्सुकता और उल्लास में मग्न हो कर वह आत्मविस्मृत हो गया है। उसकी हार्दिक परवशता और आत्मविस्मृति अनेकों स्रोतों से फूट पड़ी है। प्रकृति के माधुर्य पर रीझकर वह कभी गाता है, कभी गुनगुनाता है, कभी उत्सव मनाता है और कभी भाव-विभोर होकर नाचने लगता है। वसन्तपंचमी के उत्सव से उसके उल्लास-समुद्र में ज्वार आने लगते हैं। होली की पूर्णिमा वह रात्रि है जब कि वह ज्वार अपनी सीमा को पहुँच जाता है। प्रकृति के रंग में रँगकर, संसार के आनन्द में आनन्दित होकर, मनुष्य प्रेम और वासना के प्रवाह में अपने को छोड़ देता है। वसन्ती वस्त्रों से स्त्रियाँ सज जाती हैं। पुरुष गुलाल और रंग की वर्षा करते फिरते हैं। पिचकारियाँ चल रही हैं। रंग से कपड़े भीग गए हैं। शरीर तरबतर हो रहा है। हँसी और मुसकराहट फैल रही है। गलियों में, बाज़ारों में, घरों में, दरवाज़ों पर टोल के टोल बालक वृद्ध स्त्री-पुरुष जमा हैं। संगीत छिड़ रहे हैं। समाँ बँध रहा है। राग अलापे जा रहे हैं। इस मर्यादोल्लंघन को देखकर कोई कोई विदेशी भारतवासियों के सभ्य होने में सन्देह करने लगते हैं। उन्हीं की देखादेखी कभी-कभी कोई-कोई भारत-वासी भी नाक-भौं सिकोड़ते और सुधार का झंडा ऊँचा करते दिखाई देते हैं, किन्तु उन्हें जाकर विधाता को समझाना चाहिए। उसकी रसिकता को ही दोष देना चाहिए कि

उसने भारतभूमि को दुनिया से निराला क्यों बनाया ? मनुष्य के लिए तो प्रकृति के उन्माद से उन्मत्त होना स्वाभाविक ही है। जब प्रकृति का रूप-सौंदर्य अपनी मर्यादा का अनायास उल्लंघन कर जाता है तो उसके पुजारी, मनुष्य की भावना क्यों न आलोडित हो उठे ? हमारी समझ से तो अगर मनुष्य इस महोत्सव में अपने भावातिरेक का परिचय न देता तो वह अस्वाभाविक गम्भीरता का ढोंग रचने का प्रयत्न करता।

वसन्त ऋतु सबसे अधिक स्निग्ध ऋतु है। फूलों और पत्तों से लेकर समस्त प्राणियों में इस समय स्निग्धता और सरसता का आधिक्य रहता है। इसलिए यह ऋतु स्वास्थ्य-सुधार के लिए सर्वोत्तम है। इस ऋतु में प्रातःकाल का वायु-सेवन और भ्रमण बड़ा लाभदायक होता है। जो लोग इस ऋतु में प्रकृति के सामीप्य में ज्यादा रहते हैं, स्वच्छ वायु का सेवन करते हैं, वे वर्ष के शेष भाग में आधि-व्याधियों से मुक्त रहते हैं। जो विपरीत आहार-विहार के कारण इस ऋतु में रोगग्रस्त हो जाते हैं, उन्हें सालभर कष्ट उठाना पड़ता है। स्निग्ध होने के कारण ऋतु में कफ़ की प्रधानता रहती है। अतः इस ऋतु के रोगियों को खाँसी आदि के कारण बड़ा परेशान होना पड़ता है। इस ऋतु के लिए भ्रमण ही पथ्य कहा गया है।

इस ऋतु में मधुमक्खियों, भौंरों और तितलियों के एक फूल से दूसरे फूल पर बैठने से वनस्पतियों में रज और पराग का मिश्रण होता है। यह कार्य हवा के द्वारा भी होता है। पर ये कीट-पतंगे सृष्टि-विधान में बहुत कुछ योग देते हैं। केवल वनस्पति जगत् ही क्यों बहुत से पक्षियों और जंगली जीवों के गर्भाधान का काल है। अगर कहें तो कह सकते हैं कि जाड़े में बूढ़े विधाता के

हाथ भी सृजन-कार्य जल्दी जल्दी नहीं कर पाते इसलिए वसन्त में वह उस कमी को पूरा कर देते हैं। हेमन्त में जहाँ जीवधारियों के दर्शन दुर्लभ हो जाते हैं, वहाँ वसन्त के साथ ही उनकी सृष्टि बड़े वेग से होने लगती है। क्या वनस्पति जगत् और क्या पशु-पक्षी सबका मेला लग जाता है। वसन्त एक नया संसार लेकर अवतरित होता है। इसीलिए उसमें इतनी सजीवता है।

भारत की सी ऋतुओं का विधान दुनियाँ के और किसी देश में नहीं है। कहीं दो ही ऋतु होती हैं, कहीं तीन और कहीं चार। कोई कोई ऐसे देश भी हैं जहाँ सदा एक ही सी ऋतु, थोड़े बहुत अन्तर से, रहती है। किसी देश में वर्षा का कोई काल ही निश्चित नहीं। कहीं-कहीं चार-चार पाँच-पाँच वर्ष तक वर्षा नहीं होती। इस दृष्टि से भारत सौभाग्यशाली देश है, जहाँ क्रम-क्रम से दो नहीं चार नहीं, छः ऋतुओं का फेरा हरसाल होता है। उनमें भी भारत की वसन्तऋतु तो तीनों लोकों की अभिलाषा की वस्तु है। तभी देवता भी भारतभूमि में जन्म लेने के लिए उत्सुक रहते हैं।

समाचार-पत्रों से लाभ

अंगरेज़ी राज्य के साथ-साथ हमारे देश में कुछ नई चीज़ें आईं। उन चीज़ों में से एक चीज़ है समाचार-पत्र। अंगरेज़ों से पहले समाचार-पत्रों का कोई नाम भी न जानता था। भारत में अंगरेज़ अधिकारियों ने ही सब से पहला समाचार-पत्र निकाला था। आज तो विभिन्न भाषाओं में सैकड़ों समाचार-पत्र प्रकाशित हो रहे हैं। समाचार-पत्रों से पहुँचने वाले लाभों का दिग्दर्शन कराना ही इस लेख का ध्येय है।

समाचार-पत्र संचालन स्वयं ही एक व्यवसाय है। यद्यपि अब तक शुद्ध व्यवसाय के रूप में, हमारे देश में इसका बहुत ही कम प्रचलन हुआ, तथापि कुछ व्यक्ति और कुछ कंपनियाँ ऐसी हैं, जिन्होंने इस कार्य को केवल व्यवसाय के रूप में करके धन और यश प्राप्त किया है और अधिकांश में तो यह कार्य यहाँ अभी लोक-सेवा के नाम पर ही किया जाता है। कुछ दूरदर्शी पत्रकार महानुभावों का यह अनुमान है, कि निकट भविष्य में यह कार्य शुद्ध व्यापारिक दृष्टि से किया जायगा। इसके पूर्व चिह्न तो अभी से दृग्गोचर होने लगे हैं। जब यह कार्य स्वयं ही एक व्यापार है तो यह भी हमें मानना पड़ेगा, कि इसकी उपयोगिता अस्वीकृत नहीं की जा सकती। कितने ही व्यक्तियों को इससे रोटी चल सकती है, और अनुभवी व्यक्ति तो मालदार हो सकते हैं।

देश-विदेश के समाचार जानना, एक वैयक्तिक लाभ के रूप में समाचार-पत्रों से ही संभव है। संसार में भिन्न भिन्न प्रकार के व्यक्ति हैं। उनकी रुचि भिन्न-भिन्न प्रकार की है। वे अपनी रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के संवादों को पसंद करते हैं। पृथ्वी के विभिन्न भागों में विभिन्न प्रकार की घटनाएँ घटा करती हैं। यह समाचारपत्रों का ही कार्य है, कि वे उन विभिन्न प्रकार की घटनाओं का संवाद दुनियाँ के इस छोर से उस छोर तक पहुँचा दें।

हमारे राष्ट्रीय जीवन के निर्माण का कार्य समाचार-पत्र करते रहते हैं। पाश्चात्य देश की सरकारें इनकी महत्ता को खूब जानती हैं। बात की बात में ये जनता की विचारधारा को पलट सकते हैं। जनता को किसी भी शासनप्रणाली के अनुकूल या प्रतिकूल ये बात की बात में कर सकते हैं। इन का यह प्रभाव तो शिक्षित प्रदेशों में होता है। भारत जैसे अशिक्षित देश की तो बात ही निराली है।

समाचार-पत्रों का एक लाभ विज्ञापन है। छोटे से छोटे दुकानदार से लेकर बड़ी से बड़ी कंपनी को भी इस बात की अनिवार्य आवश्यकता रहती है, कि उसका माल बड़ी मात्रा में बिके। यह तभी हो सकता है, कि जब बहुत से आदमी इस बात को जानें, कि अमुक व्यक्ति की दुकान पर अमुक माल अच्छा और सस्ता मिलता है, अथवा अमुक कंपनी अमुक वस्तु बहुलता से निर्माण करती है। अब दुकानदार या बड़ी से बड़ी कंपनी के लिए भी तो यह संभव नहीं कि वह एक एक व्यक्ति को अलग अलग इस बात की सूचना देती फिरे। ऐसा करने में उसे समय और धन के अपव्यय तथा असुविधा की अधिकता का सामना करना पड़ेगा। पर समाचार-पत्रों में विज्ञापन छपाकर आप यह कार्य सरलता से कर

सकते हैं। आपको नौकर की, अपने बच्चों के लिए अध्यापक की, कन्या या पुत्र के लिए वर या वधू की या अन्य किसी प्रकार की आवश्यकता है, तो किसी समाचार-पत्र में विज्ञापन दीजिये, आप अधिकांश में सफल होंगे।

समाचार-पत्रों से अनुकूल या प्रतिकूल प्रचार भी किया जा सकता है। असेंबली, कार्उंसिल, म्युनिसिपलबोर्ड या अन्य किसी संस्था के चुनाव के समय उम्मीदवार लोग अपनी सच्ची या भूठी, महत्ता और उपयोगिता, मतदाताओं को बतलाने तथा अपने प्रतिस्पर्धी को मतदाताओं की दृष्टि में गिरा देने के इरादे से अन्य प्रकार के प्रचार-साधनों के अतिरिक्त समाचार-पत्रों का विशेष रूप से सहारा लिया करते हैं और यह निश्चित ही है, कि जिस उम्मीदवार का प्रचार समाचार-पत्र बढ़िया ढंग से करते हैं, वही सफलता प्राप्त करता है।

यह लोकतंत्र का ज़माना है। इस समय प्रत्येक शासक को, चाहे वह कितना ही स्वेच्छाचारी हो, अपने प्रत्येक अच्छे या बुरे कार्य के लिए, अपने शासितों को अनिच्छा-पूर्वक ही सही, उत्तर देना पड़ता है। अतः प्रत्येक शासक चाहता है, कि जनता उसके पक्ष में हो, उसकी कार्यप्रणाली का समर्थन करे, उसके द्वारा निर्मित नियम का औचित्य स्वीकार करे। इसलिए वह समाचार-पत्रों द्वारा ही अपनी नीति का जनता पर स्पष्टीकरण कर सकता है। जनता के नेता भी अपनी नीति समझाने के लिए ऐसा ही करते हैं। दूसरी ओर शासित भी अपने शासक या नेता की कार्यप्रणाली के विषय में जानना चाहते हैं। वे समाचार-पत्रों में लेखों द्वारा ही उन के कार्यों की अनुकूल या प्रतिकूल समालोचना करते हैं। और प्रायः देखा जाता है कि बुद्धिमान शासक या नेता अपने कार्यों का

विरोध होते हुए देखकर अपनी कार्यप्रणाली को बदल देते हैं, और जो अपनी राजकीय प्रतिष्ठा या नेतागिरी के घमंड में रहते हैं, वे अंत में मुँह की खाते हैं।

लोकशिक्षण का कार्य भी समाचार-पत्र सुचारु-रूप से संपन्न करते हैं। थोड़े समय में अधिकाधिक दूर तक के, अधिक से अधिक मनुष्यों को, किसी सिद्धान्त के अनुकूल या प्रतिकूल शिक्षा समाचार-पत्र ही दे सकते हैं। वे अपने प्रतिपाद्य विषय के अनुकूल समाचार, लेख, कविता, कहानी, चुटकले आदि प्रकाशित करते हैं, और यदि वे अनुकूल न हुए तो उन्हें अनुकूल बनाकर, वे प्रकाशित करते हैं। ग़रज़, कि समाचारपत्र संवाद देकर, विचार प्रकट करके और विज्ञापन देकर—इन तीनों प्रकार से लोकशिक्षण का कार्य करते हैं।

समाचार-पत्रों से एक लाभ यह भी होता है, कि वे एक समाज, संप्रदाय, देश या राष्ट्र की जनता को दूसरे समाज, संप्रदाय, देश या राष्ट्र की प्रत्येक बातों से परिचित कराते रहते हैं। दो देशों में मैत्री या विरोध संबंध स्थापित कराने में ये प्रधान भाग लेते हैं। किसी दूसरे या निकट देश की किसी विशेष प्रकार की हलचल का अपने देश पर वर्तमान समय में कैसा प्रभाव पड़ने की संभावना है, या भविष्य में कैसा पड़ेगा यह बात समाचार-पत्र ही बतला सकते हैं।

समाचार-पत्रों से होनेवाले लाभों की समाप्ति यहीं नहीं हो जाती। अभी वास्तव में उनके पूरे पूरे लाभों का पता ही नहीं लगा है। भविष्य में जनता की आवश्यकता और मनुष्यत्व की पूर्णता तक पहुँचने की उमंग उसके नित्य नूतन आविष्कार करने वाले मस्तिष्कों में से इन समाचार-पत्रों का कोई नया उपयोग

करने की कौन सी तरकीब सोचे, यह तो भविष्य ही बतलायगा, यहाँ तो सूत्र रूप में केवल इतना ही कहा जा सकता है, कि इनका कार्यक्षेत्र असीम है, अतः इनके लाभ भी असीम हैं। समाचार देने, किसी विषय पर विचार प्रकट कर देने, व्यापार-संबन्धी सूचनाएँ देने, किसी नेता या संस्था का प्रचार करने, किसी संप्रदाय विशेष के सिद्धान्तों को लोकप्रिय बनाने, किसी अत्याचार के विरुद्ध आवाज़ उठाकर आंदोलन का श्रीगणेश करने में ही इनके लाभों की इतिश्री नहीं हो जाती। विदेशों में तो ये समाचार-पत्र ही जनता के जीवन के साधनों के अधिकांश अभाव की पूर्ति करते हैं। इसका एक कारण यह भी है, कि वहाँ के लोग हमेशा यह सोचते रहते हैं, कि इनका वे ज़्यादा उपयोग किस प्रकार कर सकते हैं? जब हमारे देश के विचारकों की प्रवृत्ति इस ओर होगी, तब वे निश्चय ही इनसे नये नये काम लेकर, इनके नये नये लाभ संसार के सम्मुख रख सकेंगे।

भारतवर्ष

जिस देश में हम रहते हैं उसके अनेक नाम हैं। उनमें से एक नाम है भारतवर्ष। प्राचीन काल में भरत एक बड़ा प्रतापी राजा हो गया है। उसी के नाम पर इस देश का नाम भारत पड़ा है। 'भारत' शब्द का अर्थ होता है 'भरत का' और 'वर्ष' शब्द का अर्थ होता है 'देश'। इस प्रकार 'भारतवर्ष' का अर्थ हुआ 'भरत का देश।' आर्यावर्त, भरतखंड, हिन्दुस्तान और इंडिया भी इस देश के नाम हैं।

भारतवर्ष के उत्तर में हिमालय पर्वत है। दक्षिण में लंकाद्वीप और हिन्द महासागर हैं। पूर्व में ब्रह्मा देश और बंगाल की खाड़ी हैं, और पश्चिम में अफ़गानिस्तान, बलोचिस्तान और अरब सागर हैं। इसकी उत्तरी स्थल सीमा लगभग १६०० मील, पूर्व-पश्चिम की सीमा लगभग १२०० मील, पूर्वोत्तर सीमा लगभग ५०० मील, और समुद्री तट का विस्तार लगभग ३५०० मील है। इसका क्षेत्रफल १८०२६५७ वर्गमील है, इसमें ७०६५८३ वर्गमील देशी राज्यों का क्षेत्रफल भी सम्मिलित है। यहाँ की जनसंख्या ३५ करोड़ के लगभग है। यह एशिया महाद्वीप के दक्षिण में है। इसकी प्राकृतिक बनावट कुछ ऐसी है, कि यह उत्तर, पूर्व और पश्चिम में पहाड़ों के कारण तथा दक्षिण, पूर्व और पश्चिम में समुद्रों के कारण दुनियाँ के दूसरे देशों से अलग हो गया है। अपनी अनेक विशेषताओं के कारण एशिया महाद्वीप का एक खंड मात्र होते हुए भी, यह एक महाद्वीप से कम नहीं है। १५वीं शताब्दी के पहले तक तो यह देश चारों ओर से पहाड़ों और समुद्रों से सुरक्षित था। केवल उत्तर-पश्चिम के पहाड़ों में कुछ दर्रों के रास्ते से ही विदेशी आक्रमणकारी भारत में घुस सके थे। १५वीं शताब्दी के बाद यूरोप के लोग

समुद्री मार्ग से भारत में आये और तभी से इसकी दक्षिणी सीमा अरक्षित हो गई।

इसकी भौगोलिक विशेषताओं का इसके इतिहास पर गहरा प्रभाव पड़ा है। इसमें व्योमचुंबी पर्वतमालाएँ, बड़ी-बड़ी नदियाँ—ऐसी बड़ी-बड़ी नदियाँ जिनमें बहुत दूर तक जहाज़ आ-जा सकते हैं—हरे-भरे खेत, चौरस मैदान, पठार और मरुभूमि हैं। कतिपय अन्य कारणों के साथ यह भी एक कारण है, कि यहाँ साल में छः ऋतुएँ होती हैं। यहाँ सब प्रकार के फल, फूल और अनाज पैदा होते हैं। यहाँ के भूगर्भ में लगभग सब प्रकार के खनिज पदार्थ मौजूद हैं। ऐसा मालूम होता है, मानो माता प्रकृति ने इसकी किसी पूर्व जन्म में की हुई तपस्याओं पर रीझ कर, अपनी लौकिक और अलौकिक विभूतियों का अधिकांश भाग इसी को दे डाला है। अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण यह संसार के अन्य देशों के आकर्षण की वस्तु रही है। इसकी इन्हीं भौगोलिक विशेषताओं का इसकी प्रत्येक बात पर प्रभाव पड़ा है। नदियों के कारण ज़मीन उपजाऊ रही। इससे लोगों को खाने-पीने को काफ़ी मिलता रहा। जब लोगों का मन शांत रहता है, तभी ललित-कला, विज्ञान, और उच्चकोटि के साहित्य का प्रादुर्भाव होता है। यही हाल यहाँ हुआ। यह देश प्राचीन काल में चारों ओर से सुरक्षित रहा, अतः दूसरे देशों से इसका संबंध विशेष रूप से न हो पाया। इसका परिणाम यह हुआ, कि यहाँ की सामाजिक संस्थाएँ दृढ़ हो गईं। बाहरी लोगों का यहाँ के लोगों पर कोई उल्लेखनीय प्रभाव न पड़ा। मुसलमान और अंग्रेज़ों के सिवा सब जाति के लोगों को भारतीय आर्यों ने अपने में मिला लिया। इस देश की ऐसी ही सात्विक जलवायु होने के कारण यहाँ बड़े-बड़े दार्शनिक व्यक्ति हुए।

भूमंडल पर भारत की स्थिति भी बड़े मार्के की है। यह क़रीब क़रीब केन्द्र में स्थित है। अक्षांश-देशान्तर के विचार से भी यह ऐसे कटिबंध में है, जिसकी वजह से इसको सब तरह की सुविधाएँ प्राप्त हैं। एशिया का तो यह भाग ही है, पर यूरोप अफ्रीका और आस्ट्रेलिया महाद्वीप भी इससे दूर नहीं हैं। व्यापारिक दृष्टि से और भिन्न-भिन्न राष्ट्रों की शक्ति के संतुलन को ठीक रखने में भारत का निकट भविष्य में महत्त्व-पूर्ण स्थान होगा। अपनी इस केन्द्रवर्ती स्थिति के कारण ही अति-प्राचीन काल से संसार के बाज़ार भारत के हाथ में रहे हैं। भविष्य में भी स्वाधीन भारत इसका पूरा लाभ उठाएगा।

भारत में समय समय पर अनेक जातियाँ आईं और यहाँ बसनेवाली अन्य जातियों से लड़भिड़कर यहीं बसती गईं, कई जातियाँ तो यहाँ की पहले की जातियों में ऐसी घुल-मिल गईं, कि अब उन्हें पहचानना भी कठिन है। कई ऐतिहासिकों का मत है, कि पाषाण-काल में यहाँ ऐसे लोग रहते थे, जो बहुत ही असभ्य थे। उत्तर पाषाण-काल में ये लोग कुछ-कुछ सभ्य हो चले थे। उत्तर पाषाण-काल के बाद यहाँ कुछ लोग ऐसे आए जो ताँबे के अस्त्र शस्त्र बनाते थे। इनके बाद द्रविड़ जाति के लोग आए। द्रविड़ लोग पहले के निवासियों की अपेक्षा अधिक सभ्य थे। वे नाव बनाना जानते थे। वे व्यापार करना जानते थे। उनका अपना साहित्य था और विवाह और विरासत के उनके अपने नियम थे।

जब द्रविड़ लोग भारत में अच्छी तरह फैलकर भली प्रकार बस गए और व्यापार आदि करने लगे, तब उनपर एक और जाति ने आक्रमण किया। इस जाति का नाम था आर्य। आर्य जाति के लोग लंबे, गोरे, लंबी नाकवाले और सुन्दर थे। वे लोग

संस्कृत भाषा बोलते थे। आर्यों के बाद यहाँ मंगोल, शक, यूची, और हूण जाति के लोग आए और आर्यों में मिल गये। ईसा की आठवीं शताब्दी में यहाँ मुसलमान आए, और ईसा की १५ वीं शताब्दी में यूरोपियन आये। ये दोनों जातियाँ अभी तक आर्य जाति से संघर्ष कर रही हैं।

भारतीय सभ्यता सदा से अपने ढंग की एक रही है। इस में समय समय पर परिवर्तन होते रहे हैं। भारतीय सभ्यता बहुत व्यापक रही है। भारतीय सभ्यता ने मनुष्य जाति के विकास में प्रर्याप्त सहायता पहुँचाई है। उत्तम सभ्यता की कसौटी यही है, कि उसका अनुयायी प्रत्येक व्यक्ति 'सर्वभूत-हिते रतः' रहता हुआ अपना जीवन यापन करे। अपने लिए तो सभी जीते हैं। अपने ही लिए जीना तो पशुता है। किसी भी प्राचीन धर्मग्रन्थ को देख लीजिये, उसमें आपको यही बात देखने को मिलेगी। महाभारत में आपको मानव-जीवन की प्रत्येक समस्या पर विचार मिलेगा। पौराणिक काल में ब्राह्मण सभ्यता का प्राधान्य रहा, तथापि भारतीय सभ्यता का मूल तत्व उसमें भी अक्षुण्णरूप से है। बौद्धकालीन सभ्यता भी इस नियम का अपवाद नहीं है। यहाँ समय समय पर वैदिक संस्कृत, संस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी, मागधी आदि अनेक भाषाओं का प्राधान्य रहा। सब भाषाओं का अपना साहित्य था और इन्होंने भारतीय सभ्यता के विकास में पूरी सहायता पहुँचाई।

भारत में बहुत प्राचीन काल में गणतंत्रीय शासन पद्धति रही थी, ऐसा विद्वानों का मत हैं। यह बात संदिग्ध है, कि उस समय के गणतंत्रों का रूप आज-कल के पाश्चात्य गणतंत्रों का सा था या नहीं। नियंत्रित एकतंत्र-शासनप्रणाली तो यहाँ मुसलमानों के आने तक रही। यदि ऐसा न होता तो छत्रपति शिवाजी किस

प्रकार अपनी नई शासन पद्धति जारी करते ? भारतीयों ने समय समय पर परिस्थितियों के अनुसार साम्राज्यों की स्थापना की और सफलतापूर्वक उनका संचालन किया। मराठा-साम्राज्य के पतन के साथ भारतीय शासनप्रणाली का अंत हो गया। अब यहाँ जो भारतीय शासनप्रणाली चल रही है, उसे राजनीतिक बालकों की एक खिलवाड़ कहना ही उपयुक्त होगा।

वर्तमान भारत की हालत बड़ी विचित्र है। सामाजिक दशा में यह न तो ठेठ भारतीय है और न 'अपटुडेट' इंग्लिश। राजनीतिक दशा के विषय में यह कहना पर्याप्त है, कि इसके एक एक कोने पर 'यूनियन जैक' गर्वोन्नत मस्तक से लहरा रहा है। वाणिज्य और व्यवसाय का यह हाल है, कि यह कच्चा माल बाहर भेजता है, और उसी को तैयार माल के रूप में कई गुने ज्यादा दाम देकर वापिस ले लेता है। यहाँ के एक तिहाई आदमी एक बार भोजन करके अपने दिन काटते हैं।

किन्तु यह स्थिति अब अधिक काल तक टिकेगी नहीं, ऐसे लक्षण प्रकट होने लगे हैं। गहरी और सुदीर्घ पराधीनता ने भारत वासियों को रूढ़ि और कुरीतियों का अनुयायी बना दिया था, और उन्हें स्वतन्त्ररूप से सोचने के योग्य नहीं रहने दिया था, किन्तु वर्तमान युग की ज्ञान-प्रभा ने उनकी आँखें खोल दी हैं। वे अपनी हीन दशा को समझने लग गये हैं। आज भारत को एक ही लौ लगी है और वह है सर्वस्व त्याग करके भी स्वाधीन होने की। उसके दृढ़ निश्चय को देखकर आशा होती है कि अदूर भविष्य में वह अवश्य स्वाधीन होकर रहेगा और शीघ्र ही दुनियाँ के समुन्नत देशों में शीर्षस्थान प्राप्त करेगा।

बीसवीं सदी की वैज्ञानिक उन्नति

बीसवीं सदी में वैज्ञानिक उन्नति इस हद तक पहुँच गई है कि लोग उन्नति से डरने लगे हैं। यों तो अन्वेषण की ओर मनुष्य की बुद्धि सदा से लगी है, और वह कुछ न कुछ करता ही रहता है; पर वास्तविक वैज्ञानिक-जाग्रति के लक्षण सत्रहवीं शताब्दी में प्रकट हुए। तब से उत्तरोत्तर विज्ञान के चमत्कार बढ़ते ही गए हैं। जब विज्ञान की ओर यह प्रवृत्ति बढ़ी थी, जब वैज्ञानिक-युग का शैशवकाल था, तब तो किसी ने वर्तमान-युग की विलक्षण उन्नति के स्वप्न भी न देखे होंगे। आरंभिक आविष्कारकों से अगर कोई आज के रेडियो और टेलिविज़न की बात चलाता तो वह उसे अपनी भाषा में पागल करार देते। आज वही सब कुछ संभव हो गया है, और मनुष्य के उपयोग में आ रहा है। पर निश्चय ही आज का वैज्ञानिक-युग और आज के विचित्र-विचित्र आविष्कार, उस प्राचीन युग के, और छोटे-छोटे आविष्कारों के ऋणी हैं, जिन्हें आज हम बच्चों का खेल समझते हैं। बीसवीं सदी का समुन्नत विज्ञान अपनी पिछली अनुन्नत सदियों से ही अनुप्राणित हुआ है, और उनका हृदय से कृतज्ञ है।

अगर हम बीसवीं सदी की समस्त वैज्ञानिक उन्नति का सिंहावलोकन करें और उसे संक्षेप में व्यक्त करना चाहें तो हम पिछले छत्तीस साल के समस्त आविष्कारों को दो भागों में विभक्त कर लेंगे। एक तो वे जिन्हें आविष्कार न कह कर आविष्कारों का संशोधन या परिवर्द्धन कहना उचित होगा, पर ये संशोधन इतने मौलिक और उपयोगी हैं कि वैज्ञानिक उन्नति के क्रम-विकास में इनका स्थान बड़े मार्के का है। इसलिए इन्हें हम छोड़ भी नहीं सकते। इनके अन्तर्गत वर्तमान मोटर, पनडुब्बी, नावें, ज़ेपलिन, और राइट के वायुयान, तार टेलीफोन और ग्रामोफोन आदि मुख्य हैं। अपनी मौलिकता और विचित्रता के कारण नूतन आविष्कारों में ही इनकी गिनती होती है। दूसरी श्रेणी के विशुद्ध आविष्कारों में बेतार का तार, रेडियोफोन, सिनेमेटोग्राफी और टेलीविज़न आदि हैं। यों तो ये भी उसी वैज्ञानिक उन्नति के क्रम-विकास के फल हैं। यदि विद्युत् और ईथर का ज्ञान उन्नीसवीं शताब्दी में न हो गया होता तो आज हम इन सब से वंचित ही रहते।

भौतिक शक्तियों का थोड़ा-बहुत परिचय तो प्राचीन काल से मनुष्य को है, पर वैज्ञानिक युग से पहले-पहल उसने उनसे काम लेना शुरू नहीं किया था। मनुष्य की अपनी शक्ति बहुत थोड़ी है, केवल अपनी शक्ति के द्वारा वह कुछ भी कर सकने में समर्थ न होता। जब से उसने भौतिक शक्तियों को वश में करने में सफलता प्राप्त की है तभी से नित्य नये आविष्कार उसके द्वारा संभव हो रहे हैं। ये भौतिक शक्तियाँ क्रमशः इस प्रकार हैं—वाष्प, गैस, विद्युत् और ईथर। समस्त वैज्ञानिक उन्नति का आधार ये ही चार शक्तियाँ हैं। इन्हीं से कल-कारखाने, रेल-जहाज़, मोटर, वायुयान, टेलीग्राफ, टेली-फोन रेडियो और टेलीविज़न आदि का अस्तित्व है, इन्हीं के द्वारा

जड़-भौतिक पदार्थों में गति उत्पन्न की जा सकती है, इन्हीं के द्वारा दूरदर्शन संभव हो सकता है, और इन्हीं के द्वारा दुनियाँ के एक छोर से दूसरे छोर तक शब्द को पहुँचाया जा सकता है तथा इन्हीं के द्वारा सुदूर भविष्य के लिए महापुरुषों की वाणी को सुरक्षित किया जा सकता है। वास्तव में ये महाशक्तियाँ दैवी वरदान हैं, पर दुर्भाग्य से मनुष्य इन्हें बहुत देर में समझ पाया है। किन्तु जब से भी वह समझा है तब से वह जल, थल और आकाश का स्वामी बन बैठा है।

ऊपर हमने विज्ञान की जिस क्रमोन्नति का उल्लेख किया है, हाल का विज्ञान उससे भी आगे बढ़ रहा है। वैज्ञानिक-क्षेत्र में अब नित्य नई क्रान्तियाँ सुनने में आती हैं। आइन्स्टाइन का अपेक्षावाद और जगदीशचन्द्र वसु का जड़ पदार्थों में जीवन का अस्तित्व स्वीकार करना ऐसे ही सिद्धान्त हैं। यह सब देखते हुए भविष्य में विज्ञान की उन्नति की और भी आशा की जा सकती है।

यदि देखा जाय तो इस वैज्ञानिक उन्नति के सदुपयोग और दुरुपयोग दोनों ही हुए हैं। सदुपयोग के फल-स्वरूप अनेक लाभ हुए हैं। आज सारा संसार घनिष्ठता के सूत्र में सम्बद्ध हो रहा है। आज हम बादलों के साथ विहार कर सकते हैं। आज हम घर के भीतर बैठे-बैठे दुनियाँ की हलचलों का ज्ञान सहज ही प्राप्त कर सकते हैं। प्राचीन-काल में एक रावण के पास ही पुष्पक विमान था, आज सर्वसाधारण के लिए हवाई जहाज़ तैयार रहते हैं। आज वायुवेग से चलनेवाली जलतरणियाँ सबकी सेवा को प्रस्तुत हैं। आज हम इच्छा करते ही सहस्रों कोस की दूरी पर स्थित अपने आत्मीयजनों से बातचीत कर सकते हैं, और

उनके सुख-दुख के समाचार से अवगत हो सकते हैं। आज समुद्र-तल की विचित्रताएँ, अभ्रभेदी पर्वतों के दृश्य, ग्रह और उपग्रहों की गति का ज्ञान हमारी इच्छा के दास हो रहे हैं। दैवी शक्तियों पर अधिकार करके आज हम देवताओं के वैभव और विलास के स्वामी बन बैठे हैं। आकाश, पाताल सभी हमारे वश में हैं।

दुरुपयोगों का विचार करें तो इनसे काफी क्षति भी हुई है, हो रही है और होने की संभावना है। गत महायुद्ध में मनुष्य का महान वैज्ञानिक-अध्यवसाय रक्तपात में काम आया। बेचारे एडिसन का टेलीग्राफ के आविष्कार के समय संसार का हितसाधन ही ध्येय रहा होगा, इसी प्रकार स्टीफेनसन का लक्ष्य भी वाष्प-यन्त्र बनाते समय दुनियाँ का कल्याण ही रहा होगा। आविष्कारकों को शायद ही इस बात का ध्यान रहा हो कि उनके आविष्कार मानवजाति के नाश में भी प्रयुक्त किये जायँगे। रेलों, जहाजों और हवाई जहाजों के द्वारा सेना और अस्त्र-शस्त्र सहज ही एक स्थान पर भेजे जा सकेंगे। प्रेस, टेलीग्राफ़, टेलीफोन, रेडियोफोन आदि शत्रु जातियों के प्रति विषैला वातावरण तैयार करने में काम आयँगे। यदि वे यह सब जानते तो शायद अनेकानेक कष्ट और असुविधाएँ सहन करके इन आविष्कारों में अपने अमूल्य जीवन का उत्सर्ग न करते।

पिछले दिनों की वैज्ञानिक उन्नति की रफ्तार देखकर तो यही अनुमान होता है, कि निकट भविष्य में या तो हमारे सामने प्रलय का दृश्य होगा या एक अद्भुत और अप्रत्याशित संसार में हम साँस ले रहे होंगे। यदि दुर्भाग्य से कोई युद्ध छिड़ गया और उसमें संसार की समस्त शक्तियाँ उतर आईं, तो दुनियाँ वैज्ञानिक रुद्र का ताण्डवनृत्य अपनी आँखों से देखेगी और यदि संसार का

कल्याण ही विधाता को इष्ट हुआ तो भी जीवन आज की अपेक्षा एक दम भिन्न होगा। मनुष्य को परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं रहेगी। बिजली उसके लिए समस्त कार्य कर दिया करेगी। खाना बनाना, नहलाना-धुलाना, कपड़े साफ करना, मकान की सफाई करना, जल गरम करना, मोटर चलाना, सब कुछ बिजली के ही द्वारा संभव हो जायगा। बल्कि आदमी ज़मीन पर चलेगा ही क्यों? मकानों में रहेगा ही क्यों? वह तो आकाश में सैर किया करेगा। पर्वत की चोटियों पर और महासागर के तल में आ-जा सकेगा। उसके लिये दुनियाँ में विनोद ही एक वस्तु रह जायगी। मृत्यु से पहले किसी के वियोग में दुखी होने का अवसर ही नहीं रह जायगा। अपने स्नेही-संबंधी, प्रेमी और प्रेमिका का दर्शन, स्पर्श, उनसे वार्तालाप, सब कुछ कहीं भी रहने से हो सकेगा, फिर और चाहिए ही क्या? एक जीवन-मरण की पहेली को अभी तक कोई हल नहीं कर सका। विज्ञान का ध्यान तो इस ओर भी है, पर अभी तक अन्धकार में ही टटोलना पड़ रहा है। यदि इस ओर प्रकाश की एक किरण भी मिल गई तो एक महान् क्रान्ति फिर होगी, पर उसका अभी कोई निश्चय नहीं है। अभी तो दुनियाँ की आँखें वर्तमान उन्नति के प्रभाव की ओर ही लगी हुई हैं।

प्रकृति-सौंदर्य

प्रकृति-सौंदर्य कल्पना-निर्मित नहीं है। उसमें अनन्त का आनन्द पूर्णतया प्रतिबिंबित हो रहा है। तभी तो इस आनन्द में तल्लीन होकर मनुष्य अपने आप को भूल जाता है। अब तक अनन्तकाल से मनुष्य और प्रकृति का साथ चला आया है। प्रकृति की गोद में ही मानवजाति ने जन्म लिया था। मनुष्य की सभ्यता और संस्कृति का आरम्भ प्रकृति के ही साहचर्य में हुआ था। कला और सौंदर्य की कल्पना काव्य और संगीत की रुचि, मनुष्य में प्रकृति ने ही पैदा की है। आदिम मनुष्य ने जब आँखें खोलकर इस नीलाकाश के नीचे देखा था, तो उसकी दृष्टि के सामने यही प्रकृति का विस्तृत ऐलबम खुला हुआ पड़ा था। विधाता के इस महान और अनन्त चित्रपट के दर्शन करके मनुष्य विस्मय और आनन्द से गद्गद हो गया था। तभी पहली वार उसने आदर और भक्ति के साथ अपने सृजनहार को मस्तक झुकाया था।

प्रकृति उसी परमपिता की अद्भुत चित्रकारी है। उस महान चित्रकारी की कल्पना में संसार वसते हैं। तारों-भरी रात की शोभा उसकी तूलिका की साधारण रचना है। सूर्य और चन्द्र को चित्रित करने में उसे ज़रा भी प्रयास नहीं पड़ता। वह तूलिका

उठाते ही अमर और सजीव कृतियों को पूरी करके रख देता है। किन्तु उस विराट् चित्रकार के दर्शन करने के लिए क्या ये मानवी आँखें पर्याप्त हैं ? क्या इस सीमित दृष्टि के द्वारा हम उस निस्सीम की छवि की झाँकी पा सकते हैं ? क्या इन चर्म-चक्षुओं से उस दिव्य शरीर का साक्षात्कार संभव है ? नहीं, तो फिर एक ही मार्ग है कि हम उसकी सृष्टि से उसका अन्दाज़ लगाएँ। सूर्य और आकाश उसके विराटरूप को बताने के लिए पर्याप्त हैं। अगाध, अकूल महासागर उसके हृदय की शालीनता को व्यक्त करते हैं। हिम-मंडित शैल-शिखर, जगमगाते तारागण, लहलहाता पृथ्वीतल उसके क्रीड़ामय स्वभाव की परिभाषा है। मनुष्य अपने चारों ओर देख कर भी उस सर्वव्यापी की अनुभूति से वंचित कैसे रह सकता है ? प्रकृति के विशाल दर्पण में ही उस विराट की परछाईं झलकती है। इसी दर्पण में क्षुद्र मानव भी उसके पवित्र रूप का दर्शन पाकर कृतकृत्य हो सकता है।

प्रकृति ने न केवल मनुष्य को स्रष्टा की छवि के ही दर्शन कराये हैं, वरन् उसे पशुओं की कोटि से पृथक् करके मनुष्य बना दिया है। प्रकृति मनुष्य की प्रथम शिक्षयित्री है। उसी ने उसे सौंदर्य का, कला का, संगीत का और साहित्य का बोध कराया है। उसी ने उसकी कल्पना को सजीव और चलने-फिरने लायक बनाया है। स्रष्टा में पिता का स्नेह है, तो प्रकृति में माता की ममता है। स्रष्टा का काम तो मनुष्य का अवतारण करके ही समाप्त हो गया, उसका लालन-पालन, उसकी देख-रेख उसकी शिक्षा-दीक्षा का भार तो प्रकृति माता पर ही पड़ा। उसी के साहचर्य और संसर्ग से मनुष्य में वर्तमान विशेषताओं का समावेश हुआ है।

इसी स्नेह-संबंध के कारण मनुष्य का हृदय प्रकृति से दूर

रहने पर अपने आपको निर्जीव, निस्सहाय और निराश्रित पाता है। नगरों के कोलाहल के बीच, कारखानों के वातावरण में, रोज़गार और आजीविका के संघर्ष-क्षेत्र में उसका हृदय दुखी हो जाता है। गृहस्थी के जंजाल में वह ऊब उठता है। स्त्री-बच्चों के, बन्धु-बान्धवों के इर्ष्या-द्वेष में वह कोई रस नहीं पाता। जीवन की नीरसता दूर करने के लिए वह प्रकृति की शरण लेता है। जब दुख से, क्षोभ से, क्रोध से, घृणा से जी भर जाता है तो घर-बार छोड़कर प्रकृति के संसर्ग में जाने से ही शांति मिलती है। सभ्यता ने प्रकृति और मनुष्य की उस प्राचीन घनिष्टता को नहीं रहने दिया, इसी से सभ्य मनुष्य दुखी हैं। अनन्त वैभव का स्वामी होकर भी ऊँचे-ऊँचे महलों में रहकर भी अभूतपूर्व राजसुख भोगकर भी वह दीन है, दुखी है और प्रकृति की कृपा का भिखारी है।

आज भी उसका हृदय प्रसन्न होकर मोर की तरह तभी नाच उठता है जब वह घर से बाहर निकलकर सघन कान्तार में प्रवेश करता है। वन की शोभा कैसी सुखद, वहाँ की बयार कैसी स्वास्थ्यप्रद और छाया कैसी शीतल होती है? पर्वत के वक्षःस्थल को चीर कर झरते हुए झरने का पानी चन्द्रमा की किरणों के घोल से ही बना हुआ मालूम पड़ता है। घर के आँगन में रोने-धोने के बीच धूप, कैसी नीरस और दुखदायक प्रतीत होती है? वही धूप, वही सूर्य की किरणें वन के खुले वातावरण में कितनी आनन्दप्रद होती हैं? सघन वृक्षों और लताओं से छन-छन कर, और पहाड़ी हवा के झोंकों से बिखर-बिखर कर जब वे शरीर पर पड़ती हैं तो अपूर्व उल्लास से हृदय भर जाता है।

मनुष्य ने जिसे वैभव नाम दे रखा है, उससे उसकी मनस्तुष्टि क्यों नहीं होती? राजप्रासादों के सुख-भोग में उसका जी शान्ति

का अनुभव क्यों नहीं करता ? महलों के आनन्द-विलास से क्यों उसकी तृष्णा नहीं बुझती ? इसलिए कि वह सब कृत्रिम है। मनुष्य ने सोने चाँदी को झूठमूठ ही वैभव मान रखा है। विलास-सामग्रियों में अपने को डुबोकर वह भ्रान्तिवश शान्ति और सन्तोष की इच्छा करता है। हीरे और पन्नों से, रत्न और आभूषणों से अपने शरीर की शोभा बढ़ाने में सुख नहीं। सच्चा सुख और यथार्थ आनन्द तो प्रकृति का सौंदर्य पान करने में है। चन्द्रमा से सुधा झरती है। बादलों से स्वास्थ्य बरसता है। हवा के साथ प्रफुल्लता बहती है। उपवन में चलकर फूलों के साथ रहो, तुम्हारा मन और मस्तिष्क भी फूलों की तरह हो जायँगे। इन्द्रधनुष में कितनी शोभा है! ओस की बूँदों में कितनी कांति है! क्या रत्न और माणिक्य इस अकृत्रिम झलक की समता कर सकते हैं? सरोवर की लहरें कितनी सुन्दर हैं! नदियों के उपकूल कितने सुहावने हैं? पर्वत की असमतल उच्च-भूमि में कितनी कला है? आकाश से झरते हुए हिमकणों में कितनी कारीगरी है? समुद्र कितने विशाल और स्वच्छ दर्पण हैं? मरुभूमि की तपस्विनी सन्ध्या और उपवन की विलासवती रमणी उषा के रूप-लावण्य की समता क्या विश्व में कोई नारी कर सकती है? लताओं के कोमल किशलय, वृक्षों की चटकीली पत्तियाँ, सुगन्धित मंजरी, पीताभ पराग, झरता हुआ मकरन्द एक उदास और दुखी हृदय के लिए देवता के वरद-हस्त के समान हैं। प्रखर सूर्य की कांचन-वर्षा, स्निग्ध चन्द्र की रजत-धवल ज्योत्स्ना, पक्षिकुल का मधुर कलरव, दक्षिण पवन की संगीतमय सनसन यदि सुन्दर और मनोमोहक नहीं है, तो दुनियाँ में क्या मनोमोहक है? विज्ञान और कविता अनन्तकाल से प्रकृति के सौंदर्य और रहस्य के उद्घाटन मे लगे हैं, पर उसकी चिरनूतनता उन्हें सदा

ही विस्मित करती रहती है। मनुष्य की कलाओं का सौंदर्य तो समाधि के मुर्दे की भाँति है। उसमें सञ्जीवना नहीं है। जो बन चुका सो बन चुका। रैफल ने एक चित्र बनाया था। कालिदास ने एक काव्य लिखा था। डार्विन और हैकेल ने एक रहस्य का उद्घाटन किया था, पर उनकी कला मिश्रदेश के ममी (मुर्दे) की तरह सुरक्षित है। वह अमर रहेगी, पर मुर्दा बन कर। सजीव परिवर्तन तो केवल विधाता के प्रकृतिरूपी चित्रपट पर ही होता है। वहाँ आज वसन्त है, तो कल ग्रीष्म है। इस क्षण प्रभात है तो उस क्षण रात्रि का निविड़ अन्धकार है। यहाँ तृणरहित सैकत मरूभूमि है तो वहाँ 'सजला, सफला, शस्य-श्यामला' भूमि है! इधर दानवों की तरह भयानक और नंगी पर्वतमाला खड़ी है, तो उधर शाल, देवदारु, चीड़ और नाना प्रकार के वृक्षों से ढके हुए पहाड़ सिर उठाये हैं। एक ओर हिम-श्वेत शृंग आकाश को छूते हैं तो दूसरी ओर के सागर अतल की गहराई को नापते हैं। फिर भी मज़ा यह है कि वे सदा नूतन रहते हैं, एक क्षण के लिए भी उनमें मुर्दापन का असर नहीं होता। भवभूति ने 'उत्तर-रामचरित' में श्री रामचन्द्र जी के मुख से प्रकृति की इसी सजीवता का वर्णन कराया है। वे कहते हैं:—

सोहत हो प्रथम जहाँ पै सरि-स्रोत मंजु,
तहाँ अब विपुल पुलिन दरसावै है।
विरल हो प्रथम विपिन तहाँ घनो भयो
जहाँ घनो तहाँ अब विरल दिखावै है॥

किसी ने कहा है कि 'प्रकृति ईश्वर की कीर्ति का वर्णन तो सैंकड़ों मुखों से करती है पर उसकी दयालुता का परिचय नहीं देती।' पर ऐसा कहने वाले का ध्यान प्रकृति के सौंदर्य की ओर

ही था, प्रकृति की उपासना से जो अनेकानेक लाभ होते हैं उनकी तरफ से उसने आँखें मीच ली थीं। हम फिर से उन असंख्य लाभों को गिनाकर लेख का कलेवर बढ़ाना अनावश्यक समझते हैं। उसकी आवश्यकता भी नहीं है। हाँ इतना अवश्य कहेंगे कि क्षुद्र मानव का परित्राण प्रकृति की उपासना में ही है, उससे विमुख रहने पर उसका कल्याण नहीं हो सकता। माता का वात्सल्य और दुलार उसे तभी प्राप्त होगा जब वह माता के पार्श्व में उसके अंचल की छाया के नीचे, रहेगा। दूर और विमुख रखने से वह सभ्य और सुसंस्कृत भले हो जाय, पर उसमें मशीन की जड़ता का समावेश हो जायगा। प्रकृति से दूर जाकर आज दुनियाँ उस अभाव को समझने लगी है। तभी तो पैरिस, लन्दन और न्यूयार्क की अट्टालिकाओं के भीतर हड़बड़ी मची है और लोग कातर होकर पुकार रहे हैं "Back to the country; back to the nature." अर्थात् प्रकृति की ओर मुड़ो, गाँवों की शरण लो।

कुछ वर्णनात्मक निबन्धों के खाके

आगे विद्यार्थियों की सुविधा के लिए कुछ वर्णनात्मक निबन्धों के खाके दिए जाते हैं, जिनकी सहायता से विद्यार्थी स्वयं निबन्ध लिखने का अच्छा अभ्यास कर सकते हैं

झरना

विशेष ऊँचाई से झरनेवाले प्राकृतिक जल-स्रोतों को झरना या प्रपात कहते हैं। पार्वत्य प्रदेशों में झरनों का दृश्य। भूमंडल के विशेष-विशेष झरने। हिम-निर्मित झरने। सरोवर-निर्मित झरने। बरसाती झरने।

झरनों का वर्णन। विशेष विशेष झरनों की ऊँचाई। झरनों के आस-पास का दृश्य। पर्वत की शोभावृद्धि में झरनों का स्थान। वन और घाटियों की रम्यता तथा झरना। झरने की रजत-धवल जल-राशि। आस-पास की हरियाली। पशु-पक्षियों का विचरण और कलरव। झरने के पतन का अविराम घर-घर शब्द—मन में भय का उद्रेक। मन में विचार कल्पना और भावों का आलोडन!

झरनों की उपयोगिता—बिजली तैयार की जाती है, जिससे प्रकाश मिलता है, बड़े-बड़े कल कारखाने चलते हैं। दुनियाँ के कल-कारखानों का उल्लेख जो झरनों से लाभ उठाते हैं। भारतवर्ष के ऐसे कल-कारखाने। निर्जल पहाड़ी भूभागों में झरनों के शीतल स्वच्छ जल की उपयोगिता। झरनों के प्रदेश प्रायः स्वास्थ्यकर होते हैं।

———

ताजमहल

शाहजहाँ की बेगम मुमताज़महल का समाधि-मन्दिर। अपनी अलौकिक कारीगरी के लिए जगत्प्रसिद्ध। आगरा में यमुना नदी के तट पर अवस्थित।

संगमरमर-निर्मित। सत्रह वर्षों में बनकर समाप्त। प्रतिदिन २०००० मनुष्यों ने काम किया। संसार की सबसे सुन्दर और विस्मय-जनक इमारतों में से एक। उसकी पच्चीकारी के काम में सजीवता और स्वाभाविकता का भ्रम होना।

फाटक में प्रवेश करते ही उद्यान आरम्भ। उद्यान के बाद संगमरमर का विस्तृत चबूतरा। चबूतरे के चारों कोनों पर विशाल मीनारें। चबूतरे के मध्य में भव्य समाधि-मन्दिर। समाधि-मन्दिर के भीतर शिल्पकला का अपूर्व प्रदर्शन। इसी भवन के बीच में मुमताजमहल और शाहजहाँ की क़ब्र।

चाँदनी रात में ताजमहल की छटा। मीनारों पर से आसमान और नदीतट का दृश्य। ताजमहल शाहजहाँ के प्रेम का प्रतिरूप। एक ऐतिहासिक स्मृति का संरक्षक। दर्शन से मन में अनेक भावों का उद्रेक। ताजमहल और कवि।

संसार में अतुल कारीगरी का नमूना। कारीगरों की विशेषता। ताज के कारण संसार में भारत का नाम। बेल-बूटों में से बहुमूल्य पत्थरों का निकल जाना।

मधुमक्खी

अंडा देनेवाले परदार कीड़ों की सजातीय। मक्खी से मिलता-जुलता आकार, पर साधारण मक्खी से बहुत बड़ी। मुख्यतः स्पेन, भारत और मिस्र आदि देशों में पाई जाती है। छत्ते बनाकर झुंडों में रहती है। फूल-पत्तियों में से मधु एकत्र करती है।

शरीर के मुख्य चार भाग—सिर, धड़, टाँगें और पंख। पंख पतले, और हलके काले। सिर और धड़ के बीच का भाग पतला। धड़ वर्तुलाकार। पेट में दो थैलियाँ, जिनमें चूस कर मधु भरती है। टाँगें छः। पीछे तीखा डंक। डंक विषैला। चिढ़ने पर डंक चुभा देती है इसके दाँत भी होते हैं।

एक छत्ते में एक रानी होती है। रानी प्रतिदिन सौ अंडे देती है, उन का पालन करती और सब पर शासन करती है। कुछ मक्खे भी होते हैं। ये कुछ काम नहीं करते, सब काम मधुमक्खियाँ करती हैं। इनके काम मधुसंचय, छत्ता बनाना और पहरा देना। दूसरे छत्ते की मक्खी किसी छत्ते में प्रवेश नहीं पा सकती। मधुमक्खी की श्रमशीलता। छत्ते की अद्भुत बनावट। छत्ते की कोठरियाँ मोम की बनी होती हैं। कोठरियों में मधुसंचय किया जाता है। वसन्त और ग्रीष्म में मधु-संचय करके वर्षा और शरद् में खाती हैं। मक्खियों की संख्या अधिक हो जाने पर अन्यत्र नया छत्ता बनाती हैं।

इनसे मधु प्राप्त होता है। मोम मिलता है। मधु स्वादिष्ट और औषधरूप से प्रयुक्त होता है। मधु के लिए कहीं कहीं मक्खियाँ पाली जाती हैं। मक्खियों के काटने से कष्ट।

मक्खियों की परिश्रमशीलता और सामाजिक जीवन से शिक्षा। मनुष्य का मक्खियों के प्रति कर्तव्य।

बरगद का वृक्ष

विशाल आकार का वृक्ष। चौड़े, मोटे और मज़बूत पत्ते। उष्ण और वर्षावाले प्रदेशों में उत्पत्ति। भारतवर्ष का अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रसिद्ध वृक्ष। वेद-कालीन भारतीय साहित्य में इसका उल्लेख।

अत्यन्त छोटे बीज से उत्पन्न। जहाँ कहीं बीज गिर पड़े वहीं उग

आता है। पुरानी इमारतों, कुओं, मन्दिरों और सरोवरों के आसपास इसका होना। आकार बढ़ने के साथ-साथ बड़ी-बड़ी शाखाओं से बरोहें लटक कर पृथ्वी में धँस जाना और मुख्य कांड को सुदृढ़ बनाना। दीर्घ-जीवन। मुख्य कांड के सूख जाने पर भी बरोहों का बहुत दिनों तक वृक्ष को जीवित रखना। प्रयाग का अक्षय वट, कलकत्ता के बेटनिकल गार्डन का, और अन्य पुराने वट वृक्ष।

फल मीठा, पक्षी और बच्चों को रुचिकर। हाथी का इसके पत्तों को रुचि-पूर्वक खाना। सघन छाया, ग्रीष्मकाल में शीतल और शीतकाल में गर्म। यह वृक्ष पक्षिकुल का निवास-स्थान, पथिकों का आश्रय, बरातों का इसकी छाया में ठहरना, मेलों का लगना, ग्रामपंचायतों का होना। वर्षा, घाम और शीत तीनों से शरण आये हुओं की रक्षा करना। इसकी लकड़ी किसी विशेष काम की नहीं।

हिन्दुओं में बरगद वृक्ष का सम्मान। वटवृक्ष का रोपना पुण्य-कार्य। इसकी पूजा और सम्मान का औचित्य।

व्योमयान

अन्तरिक्ष यात्रा का साधन है।

आविष्कार और सुधार—पहले पहल गुब्बारे में बैठकर अंतरिक्ष की सैर, फ्रांस के गुब्बारे। १७८३ में सर्व प्रथम जीवधारियों का गुब्बारे से आकाश में उड़ना। ये यात्री बत्तख, मुर्गी और भेड़। अमेरिका का अनुभव। राइट साहब का दो पत्तीवाला व्योमयान, पिछला महायुद्ध और व्योम-यान। पतंग के आकार के वायुयान, पंखेवाले वायुयान, एक पत्तीवाला, दो पत्तीवाला इत्यादि। जर्मनी के प्रसिद्ध ज़ेपलिन जहाज़। अमेरिका के जार्जह्वाइट का नवीन वायुयान जिसमें एंजिनों का सर्वथा त्याग।

एलूमीनियम जैसी हलकी धातु से निर्मित। उड़ाने और उतराने के लिए उद्धारक यन्त्र का उपयोग। अग्रभाग में संचालक यन्त्र और चक्र आदि

मध्य में बैठने का स्थान। अन्तरिक्ष में रखने के लिए पहले हाइड्रोजन गैस का उपयोग। उद्दीपनशील होने के कारण उसका त्याग और अब हीलियम नामक हलकी गैस का इस्तेमाल।

रेल से भी सुलभ और शीघ्र यात्रा। गमनागमन का सबसे गतिवान साधन। "वसुधैव कुटुम्बकम्" के भाव को व्यावहारिक रूप देने वाला। युद्धकाल में शत्रुओं पर गोलोवर्षा, शत्रुसेना की खबरें लाने में सहायक, नगरों और अगम्य किलों को बमवर्षा से विध्वंस करने वाला।

पुरातन समय में वायुयान। पौराणिक कथाओं में वायुयानों का उल्लेख। वायुयान के अविष्कार में मनुष्य की अन्तरिक्ष-विचरण वाली बलवती इच्छा सहायक।

प्रदर्शिनी

जहाँ कला-कौशल के नमूनों का प्रदर्शन किया जाता है, नूतन आविष्कार प्रकाश में लाये जाते हैं। विस्मयजनक और असाधारण प्राकृतिक वस्तुएँ भी दिखाई जाती हैं। प्राचीन प्रथा के मेले भी प्रदर्शिनी का ही रूप। आधुनिक ढंग की प्रथम प्रदर्शिनी पहले पहल इंगलैंड में सन् १८५१ में हुई। भारत में प्रदर्शिनियों का बहुत प्रचार हो गया। यूरोपीय राष्ट्रों में भी प्रदर्शिनी का अधिक प्रचार।

कला-कौशल की वृद्धि और उन्नति में सहायक। कारीगरों और अविष्कारकों को नये-नये भाव मिलते हैं। उनके उत्साह की अभिवृद्धि, प्रतियोगिता की अभिलाषा। व्यापारवृद्धि में सहायक।

समुचित ढंग से वस्तुओं के प्रदर्शन का प्रबंध। कलाकारों को सम्मान और पारितोषिक देना। व्यवसायियों को आश्रय देना। आये हुए माल को अच्छे दामों पर ख़रीदकर कारीगरों और आविष्कारकों को प्रोत्साहन देना। सरकार के सहयोग की आवश्यकता।

भारतीय-प्रदर्शिनी और भारत-सरकार। सरकार की उदासीनता का प्रभाव। भारतीय प्रदर्शिनियों को सफल बनाने के अन्य उपाय। प्रदर्शिनियों-द्वारा भारतीय शिल्पवृद्धि की आशा।

उषाकाल

दिनरात का सब से सुहावना समय। नये दिन का जन्म-काल। रात के विश्राम के बाद सब कोई नये सुख का अनुभव करता है। शरीर में नूतन स्फूर्ति। चित्त में प्रसन्नता और उत्साह। शीतल, मन्द, सुगन्धित पवन का संचरण। पक्षियों का कलरव। प्रकृति की नूतन शोभा। आकाश की अद्भुत छटा। भगवद्-भक्तों के भाव-भरे भजन। वर्षाऋतु का ऊषाकाल। शरदऋतु का प्रभात। वसन्त का प्रभात। प्रभात के समय गाँवों की शोभा। प्रभात के समय उद्यान की शोभा। नदीतट का प्रभात। समुद्र के किनारे प्रभात का दृश्य। पर्वत के शिखर पर प्रभात। नगरों का प्रभात—कल-कारखानों की विषैली गैस, एञ्जिनों का धुँआँ। भीड़ का कोलाहल, इक्के-गाड़ियों की खड़खड़ाहट, फेरी वालों की कर्कश आवाज़।

उषाकाल में उठना। प्रातःकालीन सैर का स्वास्थ्य पर असर। प्रातःकाल का किया हुआ प्रत्येक कार्य सफल। अच्छा भोजन ही स्वास्थ के लिए पर्याप्त नहीं, उसके लिए शुद्ध वायु, चित्त की प्रसन्नता, दिल-बहलाव, हँसी-खुशी, उत्साह आवश्यक। ब्राह्ममुहूर्त के जागरण और प्रभात-भ्रमण से इनकी प्राप्ति।

वैदिक साहित्य में उषा को देवी माना है। प्रत्येक काल, प्रत्येक देश और प्रत्येक जाति के कवियों ने उषाकाल की महिमा और शोभा का दृश्य खींचा है। उषासेवी ही शतायु होते हैं।

उद्यान

नाना प्रकार के वृक्ष । कोई फूलों से भरे हुए, कोई फलों से लदे हुए। सुन्दर सुन्दर पुष्पित फलित लताएँ। भाँति-भाँति के पौधे। हरी-भरी क्यारियाँ। सघन-कुंज, फव्वारे, बावड़ियाँ और कुएँ। दूब का मखमली बिछौना। टहलने-घूमने के लिए प्रत्येक भाग में मार्ग। स्थान-स्थान पर विश्राम करने के लिए बैठकें मंच आदि। मधुमक्खियों और भौरों की गुंजार। पक्षियों का कलरव। प्रभातकाल की बूँदें। संध्या का दृश्य। गोधूलि की निस्तब्ध शान्ति। चाँदनी रात का दृश्य।

उपवन और मन-बहलाव। उपवन और स्वास्थ्य। फूलों की सुगंधि से आत्मा की परितृप्ति। नगरों और गृहस्थो के जीवन के लिए उद्यान परमावश्यक। उद्यान में अध्ययन और मनन की सुविधा। दिमाग़ की ताज़गी। फल-फूलों की प्राप्ति। कोयल, मोर आदि पक्षियों का सुमधुर संगीत।

(Gardening) माली का काम बड़ा रोचक और परिश्रम तथा बुद्धि का है। अनुभव की वृद्धि होती है। सब को जानना चाहिए। प्रत्येक निवासस्थान के एक भाग में उद्यान हो।

शिमला

भारतवर्ष का प्रसिद्ध पार्वतीय नगर। हिमालय के मध्य में स्थित। अपनी प्राकृतिक शोभा तथा उत्तम जल-वायु के लिए प्रसिद्ध।

पूर्व में छोटा शिमला। पश्चिम में बालूगंज। उत्तर में सँजौली तथा दक्षिण में वन और घाटी।

शिमला एक पर्वत पर बसा है। यह पर्वत ऊँचे-ऊँचे देवदारु के वृक्षों से ढका है। इसीसे शिमला की शोभा बहुत बढ़ गई है। कहीं कहीं यहाँ चीढ़ के वृक्ष भी हैं।

शिमला भारत-सरकार की ग्रीष्मऋतु की राजधानी है। उस समय यहाँ बड़ी रौनक रहती है। शिमला पहुँचने के लिए कालका तक रेल की

बड़ी लाइन है। वहाँ से शिमला तक छोटी पहाड़ी लाइन। पहाड़ पर रेल का चक्करदार घुमाव, गुफाओं में से रेल का गुज़रना। कालका से मोटर पर भी जाया जाता है। प्राकृतिक और नागरिक दोनों प्रकार की शोभा शिमला में देखी जा सकती है। शीतकाल में शिमला में अत्यधिक शीत पड़ता है। भारत के भाग्य को बनाने बिगाड़ने वाले बहुत से कानून शिमला की भूमि में ही निर्मित होते हैं।

कालका से शिमला की पैदल-यात्रा अत्यन्त रोचक। सुन्दर दृश्य, वन्य और हिंसक पशुओं का अभाव। पहाड़ी लोग बड़े सीधे-सादे। झूठ नहीं बोलते, चोरी नहीं करते, घरों में ताला नहीं लगाते। दूध-दही नहीं बेचते, बड़ा अतिथि-सत्कार करने वाले। तमाखू का खूब प्रचार।

फूल

फूलों को वृक्ष-लताओं का पुत्र, तो फलों का पिता कहना उचित है फलने से पूर्व प्रायः सभी लता-वृक्ष फूलते हैं। कुछ वृक्ष फूलते नहीं, वे फलते भी नहीं। कुछ फलते तो हैं पर फूलते नहीं।

यौवन का विकास सबका सुहावना होता है। फूल भी लता-वृक्षों के यौवन के विकास हैं। फूल भी वृक्ष-लताओं की भाँति नाना रंग-रूप और आकार प्रकार के होते हैं। कुछ फूल सुगन्धित होते हैं। कुछ देखने में अत्यन्त सुन्दर होते है, पर उनमें सुगन्ध नहीं होती। फूलों में स्निग्धता और कोमलता लता-वृक्षों के हर एक भाग से अधिक होती हैं। ईश्वर की बनाई हुई सबसे सुन्दर वस्तुओं में फूल मुख्य है।

फूल सबको अच्छे लगते हैं। पशु-पक्षी, कीट-पतंग, भौंरे-तितली तक फूलों के रंग-रूप और उनकी सुगन्धि से मस्त हो जाते हैं। आदमी फूलों से बहुत प्यार करता है। वह फूलों को अलभ्य मानता है, इसीसे देवपूजन में फूलों का बहुत महत्त्व है। फूलों से स्त्रियाँ और लड़कियाँ अपने शरीर सजाती हैं। सुगन्धित फूलों का इत्र खींचा जाता है।

सुगन्धित तेल भी फूलों से बनाया जाता है। फूलों से भरे हुए बगीचे में जाते ही दिमाग तरोताज़ा हो जाता है।

फूल के कई अंग होते हैं—पंखुड़ियाँ या दल, केशर, पराग, पत्तियों का आवरण तथा फल का मूलरूप। फूल लता या वृक्ष के वृन्त में संलग्न रहता है। फूल के झरने तक फल शीत-घाम सहने लायक हो जाता है।

दीपावली

कार्तिक मास की अमावस्या की रात को यह उत्सव होता है। दीपावली हिन्दुओं का जातीय त्योहार। घर-घर बहुसंख्यक दीपकों का जलाना।

इसी दिन श्री रामचन्द्रजी ने चौदह वर्ष के बनवास के बाद अयोध्या में प्रवेश किया था। यह खरीफ़ की फसल का भी त्योहार है। वर्षा के कारण रुका हुआ व्यापार आदि भी इसी समय फिर चालू होता है।

घरों की सफाई, मरम्मत। उन्हें सजाना और लक्ष्मी-पूजन। मिठाई पकवान आदि बनाना और उत्सव मनाना। हवन आदि करना। दिवाली की रात को नगरों, बाज़ारों और घरों की शोभा दर्शनीय।

रोगोत्पादक कीटाणुओं का नाश। वायु का शुद्ध होना। उत्सव और रागरंग से मन में स्फूर्ति की उत्पत्ति। जातीय जीवन का अनुभव, लक्ष्मी गणेश का पूजन करके सांसारिक वैभव और कल्याण की इच्छा करना और उसकी प्राप्ति में प्रयत्नशील होना।

जुए की कुरीति का कलंक। इतने पवित्र और सोद्देश्य त्योहार में जुए की प्रथा का चल जाना।

व्यापारियों का वर्षारम्भ। गत साल के हानि-लाभ का विचार करके नूतन वर्ष नये उत्साह से कार्य करने की तैयारी दिवाली विशेषकर वैश्यों [illegible] हार है।

अभ्यास के लिए विषय

(१) वन की शोभा। (२) इन्द्रधनुष। (३) काश्मीर। (४) चन्द्रग्रहण। (५) हिमालय के शिखर पर। (६) मानसरोवर। (७) म्यूज़ियम। (८) चाँदनी रात। (९) संध्या काल। (१०) ग्रीष्म की दोपहरी। (११) दिल्ली का किला। (१२) समुद्रयात्रा। (१३) भारत के पशु पक्षी। (१४) गाने वाली चिड़ियाँ। (१५) सर्प। (१६) गंगा स्नान। (१७) हरद्वार का कुंभमेला। (१८) विजया-दशमी। (१९) ग्रीष्म ऋतु। (२०) धान की खेती। (२१) चाय के बगीचे। (२२) भूमंडल। (२३) सिन्धुनद। (२४) प्लेग का प्रकोप (२५) विद्युत् रेलें। (२६) बैलगाड़ी। (२७) किसान। (२८) तीर्थयात्रा (२९) भेड़ों का चरवाहा। (३०) शिशु। (३१) मौलसिरी। (३२) जलपथ। (३३) कच्ची पक्की सड़क। (३४) झोंपड़ी। (३५) नीम की छाया। (३६) पीपल का वृक्ष। (३७) त्रिवेणी तट की शोभा। (३८) हिन्दुओं के त्योहार। (३९) समुद्रतट। (४०) अस्तंगत सूर्य। (४१) धूम्रकेतु। (४२) अकाशगंगा। (४३) बिहार भूकंप का एक दृश्य। (४४) लाहौर। (४५) रेशमी वस्त्र। (४६) भ्रमर। (४७) चींटी का जीवन। (४८) अंगूर की लताएँ। (४९) केसर की खेती। (५०) तितली।

——।——

आख्यानात्मक निबन्ध

श्रीकृष्ण

भगवान श्रीकृष्ण कब पैदा हुए थे, यह निश्चयपूर्वक बताना कठिन है। फिर भी इतिहासज्ञों का अनुमान है कि उनको हुए लगभग पाँच हज़ार वर्ष हुए हैं। उनका जन्म भारत के प्रसिद्ध क्षत्रियवंश, यदुकुल में, वसुदेव के घर में हुआ था। उनकी माता शूरसेन के अधिपति कंस की बहन थीं। जिस समय श्रीकृष्ण का जन्म हुआ, उस समय उनके माता-पिता कंस के यहाँ नज़रबन्द थे। कारण यह था, कि किसी प्रकार कंस को यह विश्वास दिला दिया गया था कि उसकी मृत्यु देवकी के आठवें पुत्र द्वारा होगी। इसीसे वह देवकी की हत्या करने को उद्यत हो गया था, पर वसुदेव ने यह प्रतिज्ञा करके कि वे देवकी की संतान को पैदा होते ही कंस के अर्पण कर देंगे, देवकी को बचा लिया था। फलतः देवकी की सात संतानें कंस द्वारा नष्ट की जा चुकी थीं। वसुदेव और देवकी दोनों इस कारण बड़े दुखी थे। इसीलिए श्रीकृष्ण के पैदा होते ही वसुदेव ने रातोंरात उन्हें मथुरा से गोकुल अपने परम मित्र नन्द-महर के यहाँ पहुँचा दिया। नन्द और उनकी स्त्री यशोदा ने उनके दुःख से दुखी होकर कृष्ण को अपने यहाँ रख लिया और अपनी नवजात कन्या वसुदेव को दे दी। कंस कन्या को पाकर ही संतुष्ट होगया, उसने कोई संदेह नहीं किया।

इस प्रकार बालक कृष्ण का लालन-पालन अहीर नन्द के घर में हुआ। कृष्ण का रंग साँवला था, इसीसे उनका नाम कृष्ण पड़ गया। लेकिन साँवले होने पर भी कृष्ण बड़े सुन्दर थे। यशोदा और नन्द ने उन्हें अपने ही पुत्र की तरह लाड़-प्यार के साथ पाला। कृष्ण के पिता वसुदेव की द्वितीय पत्नी रोहिणी भी गोकुल में ही रहती थीं। उनके उदर से बलराम का जन्म हुआ था। बलराम कृष्ण से अवस्था में बड़े थे। दोनों भाई साथ-साथ ही गोकुल गाँव में खेल-कूद कर बड़े हुए। ग्वाल-बाल ही उनके मित्र और सखा थे। उन्हीं के साथ वे आनन्द-विनोद करते और नन्द-यशोदा को प्रसन्न करते थे।

धीरे-धीरे कृष्ण बड़े हुए। तब वे माता यशोदा की आज्ञा लेकर, ग्वालों के लड़कों के साथ-साथ वन में गायें चराने जाते थे। वन में दोनों भाई इधर से उधर अपने साथियों को लिये क्रीड़ा करते थे। घर से जो कुछ भोजन ले जाते थे उसी को दोपहरी के समय सब लोग खाते और जमुना का ठंढा पानी पीते थे। कृष्ण को बाँसुरी बजाने का बड़ा शौक था। हरे-भरे वृन्दावन में, कुंजों के नीचे बैठकर वे घंटों बाँसुरी बजा-बजाकर, अपने साथियों को प्रसन्न किया करते थे। धीरे-धीरे बाँसुरी बजाने में उनको इतना कमाल हासिल हो गया कि स्त्री-पुरुष सभी उनकी बाँसुरी की मीठी तान सुनने के लिए उतावले रहते थे। यहाँ तक वर्णन किया जाता है कि उनकी बाँसुरी के शब्द को गायें और बछड़े तक तल्लीनता से सुनते थे और उसके स्वर से परिचित थे। संध्या समय जब वृन्दावन को छोड़कर वे घर को आने लगते तो बाँसुरी बजाते ही गायें और बछड़े चारों ओर से उनकी ओर दौड़ आते। आज भी तो सर्कसों और तमाशों में बाजों पर जानवरों को ट्रेन किया जाता है।

इसलिए कृष्ण के वंशी-वादन की करामात को कोरी कल्पना नहीं कहा जा सकता।

अवस्था के साथ-साथ कृष्ण में रूप-लावण्य का भी विकास हुआ। साथ-साथ उनमें चंचलता और ढिठाई, जो बालकों में होनी स्वाभाविक है, वृद्धि पाती गई। चंचल, ढीठ, सुन्दर, चपल और होनहार बालक से बोलने को सबका जी चाहता है। फिर गोकुल तो कोई विशाल नगर न था; उसमें बसनेवाले भी भिन्न-भिन्न जातियों और पेशों के लोग न थे। सब ग्वाले थे, सब सम्बन्धी थे। उनमें आपस में आत्मीयता थी। इसलिए स्त्री-पुरुषों में भी कृष्ण, अपनी अलौकिकता के कारण उसी तरह प्रसिद्ध हुए जैसे अपने समवयस्कों में। सब लोक उनसे छेड़छाड़ करते थे, वे सबसे छेड़-छाड़ करते थे। इस तरह मनोरंजन होता था। कभी कभी कृष्ण अपने साथियों को लेकर किसी ग्वालिनी के घर में घुस जाते और उसका मक्खन और दही खा जाते। दूध-दही की उस समय वहाँ इतनी अधिकता थी कि उसकी हानि को मज़ाक ही समझा जाता था। दूध दही की हानि से कोई अप्रसन्न न होता था। गोपियाँ तो उलटे उन लोगों को ऐसा अवसर दे दिया करती थीं। बच्चों की छीन-झपट में भी कभी-कभी बड़ों को एक अजीब ही आनन्द आता है। इसका अनुभव किसे नहीं होता!

खेल-कूद की अवस्था में ही कृष्ण के अन्दर परदुःख-कातरता और सेवा का भाव मौजूद था। बाद में यह भाव क्रमशः बढ़ता ही गया। अवस्था के साथ साथ उनमें शौर्य, वीर्य और दृढ़ता का भी समावेश हो गया। बुद्धि उनकी बड़ी तेज़ थी। अस्त्र-संचालन का भी उन्हें बड़ा अभ्यास था। चक्र नामक एक घुमाकर चलाये जाने अस्त्र का प्रयोग तो उनके जैसा भारत भर में कोई नहीं जानता

था, और न बाद के इतिहास में वैसे किसी वीर का उल्लेख मिलता है। अर्जुन के गांडीव धनुष की तरह उनका सुदर्शन चक्र भी विख्यात है। कृष्ण के जेष्ठ भ्राता बलराम गदा चलाने में अपना सानी नहीं रखते थे। कृष्ण जिन दिनों व्रजभूमि में रहते थे, उस बीच व्रज पर कई बार दैवी और मानवी आपत्तियाँ आई। उन्होंने आँधी और तूफान में गाँव वालों की अपूर्व सेवा की। वर्षा में स्त्री-पुरुषों और ढोरों को बचाया। पुराणों में उनकी सेवा की घटनाएँ बड़े-बड़े अलंकारों में वर्णन की गई हैं। रूपकों और प्रतिरूपकों द्वारा उन भयंकर विपदाओं को साकारता और सजीवता प्रदान की गई है। इस समय तक कृष्ण के बल वीर्य की चर्चा कंस के कानों तक पहुँची। धीरे-धीरे उसे, शायद, कृष्ण की ओर से कुछ सन्देह भी होने लगा। वसुदेव की दूसरी पत्नी और पुत्र गोकुल में रहते थे, इससे उसका सन्देह कुछ और बढ़ा। लेकिन उसे कृष्ण की असलियत का निश्चय नहीं हुआ था। इसलिए उसने उन्हें अपने दरबार में तलब किया।

अब तक कृष्ण किशोर हो चुके थे। वे अपने माता-पिता को भी कंस के बंधन से मुक्त करना चाहते थे। वे मथुरा गए। वहाँ उन्होंने अपने मामा कंस को मारा, और उसके बूढ़े पिता उग्रसेन को, जिन्हें दुष्ट कंस ने बन्दीगृह में डाल रक्खा था, बन्दीगृह से निकाल कर पुनः सिंहासनारूढ़ किया। अपने माता-पिता के कष्टों को भी हरण किया। कंस के अत्याचार ने ही चारों ओर उनके सहायक पैदा कर दिये थे। इसी से काम अनायास पूर्ण हो गया। कृष्ण की ख्याति सारे भारत में फैल गई। दूसरे अत्याचारी राजा भी उनसे भयभीत हो उठे। उसमें मगध-नरेश जरासन्ध और चेदी-नरेश शिशुपाल मुख्य थे।

जरासन्ध ने कंस का बदला लेने के लिए मथुरा पर चढ़ाई की। कृष्ण अपने कारण मथुरा पर आपत्ति आने देना नहीं चाहते थे, इसलिए मथुरा छोड़कर वे भाग गए। जरासंध ने कृष्ण का पीछा किया। गोमंत पर्वत पर कृष्ण ने मगधनरेश की सेना का बहुत बुरी तरह संहार किया। इस युद्ध के बाद कृष्ण ने करवीर-नरेश शृगाल को युद्ध में मारा। वहाँ भी उसका राज्य उन्होंने स्वयं नहीं लिया। उसके पुत्र को सिंहासन पर बिठा दिया। वहाँ से और आगे बढ़कर उन्होंने द्वारका की नींव डाली। इसके बाद उन्होंने पौंड्रक, नरकासुर आदि कई अत्याचारी नरेशों का वध किया और अनेक राजाओं और राजकुमारियों को बन्दीगृह से छुड़ाया। पर कहीं का राज्य स्वयं हड़पने की नीति का अवलंबन नहीं किया। उनका धवल यश चारों तरफ भारतवर्ष में फैल गया। वे राजा के नाम से नहीं पर राजाओं के बनाने-बिगाड़ने वाले के नाम से प्रसिद्ध हुए।

कृष्ण ने अपने जीवन में अन्तिम और महान प्रयास भारत को एक सार्वभौम सत्ता के नीचे लाने में किया। इसके लिए उन्होंने पांडवों का पक्ष लिया। युधिष्ठिर ने इसी आशय से राजसूय यज्ञ किया था। श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर को ही इस महान पद के लिए चुनकर यह बात संसार के सम्मुख विघोषित कर दी, कि सार्वभौम साम्राज्य, जिसका वे स्वप्न देख रहे हैं, केवल राजनीतिक भाव को ही नहीं लिये हुए है अपितु उसका प्राण धर्म है। उनके इस धर्म-संस्थापन के महान अनुष्ठान में प्रायः सबने योग दिया। यज्ञ के समारम्भ से पहले कितने ही युद्ध हुए। जरासन्ध का वध हुआ। यज्ञ में विघ्न उपस्थित करनेवाले शिशुपाल को अपने सुदर्शन चक्र से श्रीकृष्ण ने स्वयं मारा। इस तरह यज्ञ तो पूरा हुआ पर दुर्योधन के षड्यन्त्र में पड़कर पांडव अपना राजपाट खो बैठे और वन-

वासी हुए। द्वारका को शत्रुओं ने चारों ओर से घेर लिया। श्रीकृष्ण द्वारका के उद्धार में लग गए।

पांडवों के वनवास की अवधि पूरी होने पर, श्रीकृष्ण ने मध्यस्थता करके एक बार फिर भावी महासमर को टालने की चेष्टा की। किन्तु वे सफल न हुए। कुरुक्षेत्र में महाभारत हुआ। यह एक ऐसा युद्ध था जिसमें भारत के कोने-कोने से क्षत्रिय संग्राम में आ डटे थे। अट्ठारह दिन की निरन्तर मारकाट में अट्ठारह अक्षौहिणी सेना का संहार हुआ। केवल दस आदमी शेष रहे। यद्यपि इस युद्ध में भारत का शौर्य-वीर्य नष्ट हो गया, पर अधर्म और स्वेच्छाचार का उठता हुआ बवंडर शांत हो गया। धर्म का साम्राज्य प्रतिष्ठित हुआ। सदियों के लिए भारत में सुख और शान्ति का प्रवेश हुआ।

इस प्रकार जब हम श्रीकृष्ण के संपूर्ण जीवन पर एक नज़र डालते हैं तो उन्हें सदा बड़े-बड़े कामों में संलग्न पाते हैं। उनके जैसा कर्म-वीर हमें दुनियाँ के इतिहास में कोई नहीं मिलता। उनके जीवन का एक-एक क्षण उनके महान उद्देश्य की पूर्ति में ही व्यय हुआ है। वे सुन्दरता में साक्षात् कामदेव थे। पराक्रम में दूसरे इन्द्र थे। राजनीति और विचक्षणता में चाणाक्य थे। वक्तृत्वकला में वे बृहस्पति थे! समाजधर्म, राजधर्म, क्षात्रधर्म के मर्म को उनके बराबर कौन समझता था? उन्होंने अपने जीवन में गौएँ चराने से लेकर धर्म-संस्थापन, साम्राज्य-संस्थापन और धर्मोपदेष्टा तक के महान कार्य कर दिखाये थे। उन्होंने आर्य जाति के सामने कला का, सौन्दर्य का, प्रेम का, उदारता का, दया का, पराक्रम का, निस्पृहता का और न जाने किस किस का आदर्श उपस्थित किया। उनके श्रीमुख से प्रसूत हुई 'श्रीमद्भगवद्गीता'

की पंक्तियाँ आज भी संसार को पथ-प्रदर्शन कर रही हैं। चार-पाँच सहस्त्र वर्ष से अब तक जब-जब किसी को समाज-व्यवस्था में राज्य-व्यवस्था में, धर्मनीति में अथवा जीवन के अन्यान्य क्षेत्रों में कभी किसी कठिनाई का वोध हुआ है, तब तब इसी महान ग्रन्थ ने उसका परितोष और समाधान किया है।

इस प्रकार श्रीकृष्णचन्द्र ने देश, जाति और मानव-समाज की अथक सेवा सारे जीवन भर की। कभी एक क्षण के लिए उन्होंने विश्राम नहीं किया। चरित्र की दिव्यता के कारण ही वे बाद में हिन्दुओं द्वारा ईश्वर के अवतार माने गए और उनकी अब तक पूजा और उपासना होती है। हिन्दुओं के आधे से अधिक साहित्य और कला के क्षेत्र में इन्हीं लीला-पुरुषोत्तम के ललित चरित्रों का चित्रण है।

कहा जाता है कि महाभारत के युद्ध और यादवों के पतन के बाद कृष्ण का चित्त द्वारका में न लगा। एक सघन वन में वृक्ष के नीचे जब वे लेटे हुए थे, तो उनके पैर में एक बहेलिये का बाण आकर लगा। उसी से उनका देहावसान हुआ। लेकिन गीता के अनुसार उनका पंचभौतिक शरीर ही नहीं रहा, पर वे तो सदा अमर हैं, और फिर हिन्दू-जाति ने तो उन्हें अपने हृदय में रख छोड़ा है, उसके लिए तो वे सदा अमर हैं।

प्रह्लादभक्त

बहुत पुराने समय में एक दैत्य रहता था। उसका नाम था हिरण्यकशिपु। वह बड़ा वीर था। वह शिव का तो था भक्त और विष्णु का था शत्रु। उसने अपने सारे राज्य में यह ढिंढोरा पिटवा दिया था, कि कोई भी विष्णु की पूजा न करे। वह विष्णु का यहाँ तक शत्रु हो गया था, कि पूजा करना तो रहा दूर, कोई विष्णु का नाम भी ले लेता तो वह जल-भुनकर राख हो जाता और उसे कड़ा दंड देता था।

उसका एक लड़का था। उसका नाम था प्रह्लाद। प्रह्लाद भगवान विष्णु का उतना ही भक्त था, जितना उसका पिता उनका शत्रु। बचपन से ही प्रह्लाद के रंग-ढंग कुछ ऐसे थे, जिनसे मालूम होता था, कि वह अपने बाप की तरह नहीं होगा। जब उसके साथी इधर-उधर कूदते-फाँदते, चीखते-चिल्लाते, खाते-पीते, तब वह एकांत में बैठा-बैठा कुछ सोचा करता।

एक दिन रास्ते में प्रह्लाद को नारद मुनि मिल गये। प्रह्लाद ने नारद मुनि से पूछा, कि महाराज! इस दुनियाँ को किसने बनाया? इन सूरज, चाँद और तारों को किसने बनाया? इन मनोहर पेड़ों, फल-फूलों और परिन्दों को किसने बनाया? नारदजी ने इन प्रश्नों के उत्तर में कहा, कि बेटा यह सारी दुनियाँ भगवान की है। उन्होंने

इसको बनाया है। वे ही इसकी रक्षा करते हैं। तुम उन्हीं का ध्यान करो। जब वे तुम पर प्रसन्न होंगे, तो तुम्हें दर्शन देंगे। उस समय तुम ये सब बातें समझ सकोगे। तब से प्रह्लाद अपना सारा समय भगवान की पूजा और ध्यान में लगाने लगा। वह और भी गंभीर हो गया।

प्रह्लाद पाँच वर्ष का हुआ, तो उसके पिता का इरादा उसे गुरुकुल में पढ़ने को भेजने का हुआ। दैत्यों के कुलगुरु का नाम था शुक्राचार्य। पर जब प्रह्लाद पढ़ने के योग्य हुआ, शुक्राचार्य तपस्या करने के लिए हिमालय चले गये। उनके लौटने का कोई निश्चित समय नहीं था। हिरण्यकशिपु प्रह्लाद को शीघ्र ही पढ़ने के सिलसिले में डाल देना चाहता था, क्यों कि वह जानता था, कि अधिक समय तक उसको पढ़ने न बैठाने का परिणाम अच्छा न होगा। इसलिए उसने निश्चय किया, कि प्रह्लाद को शुक्राचार्य के षण्ड और अमर्क नामक लड़कों के पास पढ़ने को भेज दिया जाय।

एक दिन अच्छे मुहूर्त में हिरण्यकशिपु ने अपने विचार को अमली जामा पहना दिया—उसने प्रह्लाद को शुक्राचार्य के पुत्रों के पास पढ़ने भेज दिया। वह चाहता था, कि उसका पुत्र उससे भी अधिक कट्टर विष्णु-द्रोही हो। यह बात उसने प्रह्लाद को सौंपते समय, गुरुओं को समझा भी दी थी। उसने उन्हें यहाँ तक कह दिया था, कि अगर उनकी शिक्षा के प्रभाव से प्रह्लाद देवता और ब्राह्मणों को खूब सताने लगा, तो वह उन्हें मुँह-माँगा पुरस्कार देगा। गुरुओं ने भी राजा की यह आज्ञा स्वीकार कर ली।

प्रह्लाद ने पढ़ना शुरू किया। उसकी बुद्धि बहुत अच्छी थी। उसने सारे स्वर वर्णों को एक बार देखकर ही पहचान लिया।

फिर व्यंजन पढ़ने की बारी आई। व्यंजनों के प्रथम वर्ण 'क' को देखते ही उसका ध्यान 'क' से बनने वाले विष्णु के नाम की ओर चला गया। उसके हृदय में भक्ति का सागर उमड़ पड़ा। उसकी आँखों में आनन्दाश्रु भर आए। उसकी यह हालत देखकर सब हँसने लगे। उन्होंने कहा 'क' को देखकर ही यह तो रो पड़ा, यह आगे कैसे पढ़ेगा। गुरुओं ने लड़कों को डरा-धमकाकर चुप किया, और प्रह्लाद से कहा—'बेटा, देखो तुम्हारे साथी तुम पर हँसते हैं।' प्रह्लाद इस बार ताली बजाकर ज़ोर-ज़ोर से कृष्ण का नाम रटने लगा।

प्रह्लाद के मुँह से विष्णु का नाम सुनते ही दोनों गुरुओं के देवता कूच कर गये। उन्होंने समझा कि राजा के आगे अब हमारी ख़ैर नहीं। राजा अब हम पर बड़ा अत्याचार करेगा। मज़ा यह हुआ; कि भगवान के प्रताप से प्रह्लाद के सब सहपाठी भी उसके साथ-साथ कृष्ण का नाम रटने लगे। गुरुओं ने सोचा यह तो राजा-रानी का प्यारा बेटा है। संभव है वे उसे माफ़ कर दें। पर हमारी और दूसरे बच्चों की क्या हालत होगी? गुरुओं ने उसे खूब पीटा। उन्होंने लड़कों को भी खूब पीटा, पर न तो प्रह्लाद ही चुप हुआ और न लड़के ही।

इस पर उन्होंने इन सब बातों की शिकायत राजा से कर दी। राजा यह खबर पाते ही आगबबूला हो गया। वह पहले गुरुओं पर सारा दोष मढ़ने लगा। पर जब गुरुओं ने कहा कि हम तो बिलकुल निर्दोष हैं, तब उसने प्रह्लाद को बुला कर पूछा, कि तुमने गुरुकुल में क्या पढ़ा! उसने अपने पिता को विष्णु-भक्ति का महत्त्व समझाया। उसने कहा संसार में राम नाम ही सार है।

अब तो राजा के क्रोध का पारावार न रहा। उसने आज्ञा दी,

कि प्रह्लाद का सिर काट दिया जाय। जल्लाद उसे श्मशान भूमि में ले गये, और जैसे ही उन्होंने उसके सिर पर तलवार का वार किया कि तलवार टूट गई। फिर नई तलवारें मँगाई गईं। वे भी उसकी देह में लगते ही टूट गईं। राजा ने प्रह्लाद से पूछा कि बेटा तुम कैसे बचे ? उसने कहा—'मुझे राम ने बचाया।'

राजा को इतना क्रोध आ रहा था, कि वह पागल सा हो गया था। उसने आज्ञा दी कि प्रह्लाद को अन्धेरे जेलखाने में बन्द कर दो। वह कैद कर दिया गया। मंत्रियों ने राजा को सलाह दी, कि इसे ज़हर पिला दिया जाय। उसे ज़हर के लड्डू दिये गए। किन्तु उसपर विष के लड्डुओं का भी कुछ असर न हुआ। बल्कि भगवान की कृपा से लड्डू खाने के बाद प्रह्लाद की ताक़त खूब बढ़ गई। राजा को पता लगा कि प्रह्लाद ज़हर के लड्डू खा कर भी मरा नहीं। उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उसने प्रह्लाद को समझाया और कहा कि बेटा विष्णु का घृणित नाम लेना छोड़ दो। प्रह्लाद ने कहा, पिताजी विष्णु तो शरणागत-वत्सल, भक्त-प्रतिपाल, और विश्वनियंता हैं। उन्हीं का नाम सत्य और सार्थक है।

राजा फिर गुस्से से जल उठा। उसने कहा इसे हाथी के पैरों तले डाल दो। राजा के सेवकों ने ऐसा ही किया। प्रह्लाद के हाथ पैर बाँध कर उसे एक पागल हाथी के सामने छोड़ दिया गया। हाथी झपटा, पर हाथी ने जैसे ही नीचे देखा, कि उसका गुस्सा ठंढा पड़ गया। हाथी ने प्रह्लाद को सूँड से उठा कर अपनी पीठ पर बैठा लिया। लोगों को आश्चर्य हुआ। राजा ने प्रह्लाद से पूछा कि तुमने हाथी को कैसे वश में किया ? प्रह्लाद ने उत्तर दिया, कि कि हरि की सच्ची भक्ति के बल से।

राजा गुस्से के मारे दाँत पीसने लगा। उसे इतना ज्यादा

गुस्सा आया, कि वह होंठ चबाने लगा। मंत्रियों ने सलाह दी कि प्रह्लाद को ज़हरीले साँपों से कटवाया दिया जाय। बस कहने भर की देर थी। एक दिन प्रह्लाद के कमरे में रात को साँप छोड़ दिए गए। प्रह्लाद अपने ध्यान में मग्न रहा। साँप धीरे-धीरे बाहर चले गए। राजा ने पूछा, कि बेटा अब की बार कैसे बचे? प्रह्लाद ने उत्तर दिया, राम की कृपा से।

राजा की क्रोधाग्नि में घी की आहुति पड़ी। उसी समय उसने आज्ञा दी, कि इसके हाथ-पैर मज़बूती से कस कर बाँध दो, और पहाड़ की चोटी पर से ढकेल दो। ऐसा ही किया गया। अब की बार लोगों ने समझा, कि शायद प्रह्लाद मर जायगा। पर लोगों ने नीचे जाकर देखा, कि प्रह्लाद एक सुन्दर स्त्री की गोद में बैठे राम नाम जप रहे हैं। यह देख कर राजा का क्रोध और बढ़ा।

उसने इस बार प्रह्लाद को आग में जलाने का इरादा किया। एक बड़ा भारी अग्निकुंड बनाया गया। प्रह्लाद की एक बुआ थी, उसका नाम था होलिका। उसे वर था कि आग में न जलेगी। मंत्रियों ने सलाह दी, यदि होलिका प्रह्लाद को गोद में लेकर आग में जा बैठेगी तो वह तो जल जायगा, और यह न जलेगी। इसी विश्वास के कारण राजा प्रसन्न हो रहा था। लेकिन, लोगों ने देखा कि आग की ऊँची-ऊँची लपटों में बैठा हुआ प्रह्लाद भगवान का नाम ले रहा है।

इसके बाद और अनेक प्रकार से उस बालक को मारने का यत्न किया गया पर कुछ न हुआ। अन्त में एक विराट सभा की गई। सभा में एक ऊँचे सिंहासन पर राजा बैठा। चारों ओर राज्य के सब अफसर, सेठ-साहूकार आदि बैठे। प्रह्लाद से राजा

ने पूछा "तुम जो कहते हो, कि मैं हरि नाम के प्रताप से वच गया, तो क्या तुम्हारा हरि सब जगह मौजूद है ?"

प्रह्लाद ने कहा—हाँ !

राजा ने पूछा—क्या इस सभा में भी तुम्हारा राम मौजूद है ?

प्रह्लाद ने कहा—अवश्य !

राजा ने पूछा—क्या इस संगमरमर के खंभे में भी तुम्हारा राम है ?

प्रह्लाद ने कहा—हाँ, है, इस खंभे में भी मेरा राम है।

राजा अब अपने क्रोध को अधिक न रोक सका। उसने गदा मारकर खंभे को तोड़ दिया। खंभे के टूटने पर एक ऐसी मूर्ति प्रकट हुई जिसका सिर तो शेर का और धड़ मनुष्य का था। राजा ने उस पर गदा से प्रहार किया। उसने उसकी गदा पकड़ ली। बड़ी देर तक दोनों में लड़ाई हुई। फिर उस मूर्ति ने, जिसे पुराने समय के इतिहास-लेखकों ने नृसिंह भगवान के नाम से संबोधित किया है, मकान की चौखट पर जाँघ रख कर अपने तेज़ नखों से राजा का पेट फाड़ डाला, और प्रह्लाद से कहा—बेटा वर, माँग—भगवन् आपके चरणों में मेरी भक्ति सदा बनी रहे। भगवान नृसिंह ने 'तथास्तु' कहकर उसे राजगद्दी पर बैठाया, और अन्तर्धान हो गये।

प्रह्लाद ने राजा होकर बहुत बरसों तक राज्य किया।

प्रह्लाद की इस कथा से हमें यह शिक्षा मिलती है कि मनुष्य एक बार अच्छी तरह सोच समझकर जिस काम को प्रारम्भ करे, उसे लाख आफ़त आने पर भी अधूरा न छोड़े। जो आदमी अपने ध्येय पर दृढ़ रहता है, उसकी मदद भगवान भी करते हैं। प्रह्लाद अपने सिद्धान्त पर डटा रहा, तो आग, जल, पहाड़, जहरीले

साँप, और ज़हर भी उसका कुछ न बिगाड़ सके। संसार में सभी पैदा होते हैं पर मनुष्य के कार्य ही उसे दूसरों की दृष्टि में साधारण या असाधारण बना देते हैं। प्रह्लाद यदि भगवान का भक्त न होता और भगवान की भक्ति के नाम पर उसने तकलीफें न उठाई होतीं तो आज उसका नाम हर एक आदमी की ज़बान पर न होता आज कई लोग अपने बच्चों का नाम 'प्रह्लाद' रखने में बड़ा गौरव महसूस करते हैं। इन घटनाओं को हुए हज़ारों साल हो गये, पर आज तक हम लोग प्रह्लाद का नाम श्रद्धा-पूर्वक लेते हैं और लेते रहेंगे।

शिवाजी

शिवाजी मातृ-वंश और पितृ-वंश दोनों ओर से राजपूत थे। पितृपक्ष से वे उस प्रसिद्ध वंश में उत्पन्न हुए थे जिसमें बड़े-बड़े शूरवीर और पराक्रमी पुरुष पैदा हुए थे और जो वंश सदियों से भारत की स्वाधीनता के लिए अपना रक्त बहाता आया था, जिस वंश ने कभी मुसलमानों के सामने अपना मस्तक नहीं झुकाया, जिसने कभी उनसे सम्बन्ध करने की बात नहीं सोची। हमारा मतलब उसी सीसोदिया कुल से है जिसमें बाप्पा रावल, राणा साँगा और महाराणा प्रतापसिंह जैसे धीर-वीर नवरत्नों ने जन्म लिया था; और जिसकी ध्वजा अब भी चित्तौड़ के किले पर फहराती है यद्यपि मुगल और पठान, दिल्ली और आगरा आज अपने वैभव खो बैठे हैं। मातृपक्ष की ओर से भी शिवाजी का संबंध उस प्राचीन यादव वंश से था, जिसकी राजधानी कभी देवलगढ़ थी। यद्यपि समय के उलट-फेर के कारण राज्य की बागडोर उसके हाथ से निकल गई थी फिर भी वह वंश दक्षिण के तत्कालीन राजपूत-वंशों में प्रतिष्ठित और उच्च गिना जाता था।

शिवाजी के पिता का नाम शाहजी था। शाहजी बीजापुर दरबार की नौकरी में थे। उनका विवाह पराक्रमी और प्रतिष्ठित जागीरदार यादवराव की कन्या जीजाबाई से हुआ था। इन्हीं जीजाबाई के गर्भ से सन् १६२७ में पूना के पास शिवनेर के किले में शिवाजी का जन्म हुआ। जिस समय शिवाजी का जन्म हुआ था उस समय शाहजी भोंसला लड़ाई के मैदान में डटे हुए थे। सबसे विचित्र बात यह थी कि एक सेना की तरफ से शाहजी थे और दूसरी ओर से उनके श्वसुर यादवराव लड़ रहे थे। इससे श्वसुर और दामाद में मनोमालिन्य बढ़ता गया और शाहजी ने अपना दूसरा विवाह कर लिया। शिवाजी अपनी माता के साथ पूना में रहने लगे।

शाहजी ने शिवाजी की देख-रेख और शिक्षा का भार अपने विश्वासपात्र दादाजी कोंडदेव को सौंप दिया। दादाजी बड़े योग्य और ईमानदार आदमी थे। शाहजी की पूना की जागीर का प्रबंध उन्हीं के पास था। उन्होंने शिवाजी को उत्तमोत्तम शिक्षा दी। जागीर के प्रबंध में भी उन्होंने शिवाजी से काम लेना आरम्भ कर दिया। उस समय मराठा जाति में विद्या की ओर रुचि नहीं थी, तो भी दादाजी ने शिवाजी को, जो बन पड़ा पढ़ाया-लिखाया। युद्ध-विद्या में भी उन्हें खूब अभ्यास कराया। घोड़े की सवारी में तो वे अद्वितीय होगये। इसके अतिरिक्त निशाना मारने, तलवार का प्रयोग करने और भाला चलाने में भी उन्होंने शीघ्र ही कौशल प्राप्त कर लिया। दादाजी की तत्परता और योग्यता ने शिवाजी के चरित्र को खूब बलवान बना दिया। समय को देखते हुए जिन-जिन बातों की आवश्यकता थी उन-उन में दादाजी ने उन्हें भली प्रकार प्रवीण और कुशल बना दिया। जागीर के प्रबन्ध में भाग

लेने के कारण वे अपनी अशिक्षित, लड़ाकू पर दृढ़ मावली प्रजा के संसर्ग में आते जाते रहे और अपने निर्मल तथा मधुर स्वभाव और सहज उदारता से उन्होंने मावलियों का हृदय जीत लिया। जिसका परिणाम यह हुआ कि अन्त समय तक इस वफ़ादार प्रजा ने उनका प्राणपण से साथ दिया।

शिवाजी के चरित्र-निर्माण में उनकी माता जीजाबाई का विशेष हाथ था। वे स्वयं सुशिक्षिता थीं। उन्होंने शिवाजी में धार्मिक संस्कारों की जड़ जमाई। वे बचपन से ही बालक शिवाजी को हिन्दुओं की वीरता और भक्तिभाव की कहानियाँ सुनाया करती थीं। शिवाजी को भी कथा सुनने का बहुत शौक था। अनेक वीर और महापुरुषों के जीवन-वृत्तान्त सुनने से उनका चरित्र और भी दृढ़ और निर्मल हो गया। उनके जीवन में आगे चलकर जो सदाचार की उज्ज्वल झलक दिखाई पड़ी है वह इसी सुशिक्षा का परिणाम था।

बचपन में प्राचीन वीरपुरुषों की जो कहानियाँ शिवाजी ने सुन रक्खी थीं, उनसे उन्हें पराक्रमी योद्धा बनने की अभिलाषा हुई। उस समय महाराष्ट्र-जीवन में एक नवीन लहर चल रही थी और जातीयता का भाव उमड़ रहा था। इस नवीन जीवन के प्रवर्तकों में समर्थ गुरु रामदास भी थे। शिवाजी ने उनको अपना गुरु माना था। उनकी धार्मिक और जातीय जोश से भरी हुई शिक्षाओं का भी शिवाजी पर गहरा असर पड़ा था। धीरे-धीरे शिवाजी की महत्वकाँक्षा बहुत बढ़ गई और उन्होंने निश्चय कर लिया कि वे कुछ करें। फलतः १६ वर्ष की अवस्था में उन्होंने बीजापुर-नरेश के पूना ज़िला के अन्तर्गत कुछ क़िलों को जीत लिया। इस पर बीजापुर दरबार ने शाहजी को लिखा कि वे अपने

पुत्र को रोकें। शाहजी ने दादाजी कोंडदेव को लिखा कि शिवाजी को रोक दिया जाय। यह सुनकर शिवाजी को बड़ी चिन्ता हुई। वे धर्मसंकट में पड़ गये। एक ओर तो जाति और धर्म उद्धार का शुभ संकल्प था, दूसरी ओर पूज्य पिता की आज्ञा। अन्त में उन्होंने अपनी माता से परामर्श करने के उपरान्त गौ, ब्राह्मण और धर्म की सेवा को ही श्रेयस्कर ठहराया।

दादाजी कोंडदेव ने शाहजी की आज्ञानुसार शिवाजी को समझाया इसके कुछ ही दिन बाद दादाजी का शरीरान्त हो गया। दादाजी की मृत्यु के उपरान्त जागीर का प्रबन्ध भी शिवाजी के हाथ में आगया। सन् १६४६ ई० से शिवाजी ने खुलेआम नेतृत्व करना आरम्भ कर दिया। उन्होंने बहुत शीघ्र साम, दाम, दंड, भेद आदि की नीति का समयानुसार अवलंबन लेते हुए चाकन, तोरण, सिंहगढ़, रामगढ़ पुरंदर और कल्याण के किलों पर अधिकार कर लिया। इस समय बीजापुर का बादशाह महल और कबरें बनवाने में लगा हुआ था और उसके सेनापति शाहजी कर्नाटक की लड़ाई में थे और इधर से उधर धावा कर रहे थे।

२१ वर्ष की अवस्था तक शिवाजी यह कार्य समाप्त कर चुके थे। अब वे आगामी युद्धों की तैयारियाँ वेग से करने लगे। एक ओर तो उन्होंने सेना संगठन का कार्य आरंभ किया और दूसरी तरफ अपने दूत चारों ओर अपने इलाके में भेज दिए। इसी समय शिवाजी को समाचार मिला कि कोंकण से बहुत बड़ा खज़ाना बीजापुर की ओर जा रहा है, तुरन्त दो सौ सवारों को लेकर उन्होंने खज़ाना लूट लिया। इस लूट की और कई नये किले लेने की खबर बीजापुर दरबार में साथ-साथ पहुँची। बादशाह को बड़ी फिक्र हुई। उसने एक तरकीब की। बाजी

घोरपड़े नामक अपने मराठा सरदार को गुप्त सूचना भेजी कि शाहजी को किसी प्रकार बंदी बना लो। घोरपड़े ने शाहजी को अपने यहाँ भोजन का निमंत्रण देकर बुलाया और विश्वासघात करके उन्हें गिरफ्तार करवा दिया। शाहजी बंदी बनाकर बीजापुर लाये गये। बादशाह ने कहा—"तुम्हारे ही इशारे से शिवाजी का साहस इस क़दर बढ़ता जाता है।" शाहजी ने शिवाजी को पत्र भी लिखा पर वे न माने। इस पर बादशाह और भी कुपित हुआ। शाहजी ने बहुत कहा कि शिवाजी पर मेरा कोई वश नहीं है और न वह मेरी राय से कुछ करता है, पर बादशाह को विश्वास न हुआ। शाहजी को एक अँधेरे गढ़े में डाल दिया गया और एक छोटे सूराख को छोड़कर सब द्वार बंद कर दिये गये। साथ ही यह भी घोषित कर दिया गया कि अगर शिवाजी शीघ्र ही अराजकता बंद न करेगा तो वह सूराख भी बंद कर दिया जायगा।

शिवाजी को बड़ी चिंता हुई। अन्त में उन्हें एक युक्ति सूझ गई। उन्होंने मुगल-सम्राट् शाहजहाँ से पत्र-व्यवहार किया। शाहजहाँ ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और बीजापुर-नरेश को बाध्य किया कि वह शाहजी को मुक्त कर दे। शाहजी मुक्त हो गए। इसके बाद बीजापुर-नरेश आदिलशाह ने बाजी शामराजे नामक मनुष्य को शिवाजी की गिरफ्तारी के लिए गुप्त रूप से नियुक्त किया, पर कुछ फल न हुआ। बल्कि इसी बीच में जावली के राजा चंद्रराव को मारकर उसका राज्य भी शिवाजी ने अपने अधिकार में कर लिया। इस पर बीजापुर-नरेश ने अफ़ज़लखाँ नामक अपने सेनापति को एक बड़ी सेना के साथ भेजा। खान ने युक्तिपूर्वक अपने दूत द्वारा शिवाजी से यह कहला भेजा कि अगर वे खान से मिलें तो उनके सारे अपराध क्षमा करा दिए जायँगे। शिवाजी

ने स्वीकार कर लिया। भेंट हुई, पर शिवाजी सतर्क थे। ज्यों ही उन्होंने खान की नीयत बदली देखी त्यों ही 'बघनखा' नामक अस्त्र से उसका पेट चीर डाला। उधर मराठा-सेना ने खान की सेना को काट डाला और भगा दिया।

अब शिवाजी का मोर्चा मुग़लों से लगा, क्योंकि अब मराठे मुग़ल राज्य में धावा करने लगे। औरंगज़ेब ने अपने मामा शायस्ताखाँ को भेजा। शायस्ताखाँ ने आते ही पूना पर अधिकार जमाया और वहीं के महलों में रहने लगा। एक दिन शिवाजी चुपचाप पहाड़ से निकले और एक नक़ली बरात बनाकर नगर में घुस पड़े। मराठे शायस्ताखाँ के महल में घुस पड़े, और मुग़लों को काटने लगे। शायस्ताखाँ का लड़का मारा गया। शायस्ताखाँ खुद बच गया पर भागते-भागते उसकी उँगलियाँ कट गईं। सन् १६६४ में शिवाजी ने सूरत नगर को लूटा और यूरोपियन कंपनियों से बहुत सा रुपया वसूल किया। शायस्ताखाँ के बाद औरंगज़ेब ने मिर्ज़ा राजा जयसिंह और शाहज़ादा मुअज्ज़म को शिवाजी के विरुद्ध भेजा। जयसिंह ने शिवाजी से मिलकर उनसे मुगल आधिपत्य स्वीकार कर लेने की संधि की। जयसिंह की प्रेरणा से शिवाजी आगरा गए। दरबार में जब उन्हें पंचहज़ारी मनसबदारों में खड़ा किया गया तो उनके क्रोध का वारापार न रहा। औरंगज़ेब से भी यह बात छिपी न रही। अतः उसने शिवाजी के डेरे पर पहरा लगवा दिया। शिवाजी नज़रबन्द हो गये।

एक इतिहास-लेखक के कथनानुसार जब उन्हें राजा जयसिंह के पुत्र कुमार रामसिंह से पता लगा कि बादशाह उनके क़त्ल का निश्चय कर चुका है, तो उन्होंने बीमारी का बहाना किया। कुछ दिन बाद बीमारी दूर होने का समाचार प्रकाशित किया गया और

उसी खुशी में मन्दिरों-मस्जिदों और अमीर-उमरावों के यहाँ बड़े बड़े टोकरों में मिठाइयाँ भेजी जाने लगीं। मौका पाकर एक टोकरे में शिवाजी और एक में उनका पुत्र शंभाजी छिपकर निकल गए। रातों-रात आगरा से मथुरा जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने सिर मुँडा लिये और साधुओं का वेश धारण करके प्रयाग, काशी और जगन्नाथपुरी होते हुए नौ महीने बाद सन् १६६६ में अपनी राजधानी में पहुँचे।

मुग़लों से फिर लड़ाई छिड़ गई। बादशाह ने मिर्ज़ा राजा जयसिंह को वापस बुला लिया और जोधपुर-नरेश जसवन्तसिंह को भेजा। शिवाजी ने मुग़लों से संधि कर ली। औरंगज़ेब ने शिवाजी को राजा की उपाधि दी और शंभाजी को पंचहज़ारी मनसबदार नियुक्त किया, पर यह संधि अस्थायी थी। सन् १६७० में पुनः लड़ाई आरंभ हो गई। शिवाजी ने इस बार खानदेश से चौथ वसूल की और सूरत को दूसरी बार लूटा। उन्होंने मुगलों से अपने सब किले भी वापिस ले लिए। सन् १६७४ में शिवाजी ने रायगढ़ को अपनी राजधानी बनाया और बड़े समारोह से अपना राज्याभिषेक किया। राज्याभिषेक के बाद शिवाजी ने अपने राज्य का और भी विस्तार किया, सन् १६७७ में उन्होंने कर्नाटक पर चढ़ाई की, और उस सारे प्रदेश को जीत लिया। इसके बाद मुगलों ने बीजापुर पर चढ़ाई की। बीजापुर के बादशाह ने शिवाजी से सहायता माँगी। शिवाजी ने शरणागत की रक्षा का पूरा प्रबन्ध किया। बीजापुर की रक्षा उनके जीवन का अंतिम महान कार्य था। सन् १६८० में ५३ वर्ष की अवस्था में उनका देहान्त हो गया।

शिवाजी के चरित्र के विषय में उनके शत्रु भी प्रशंसा करते हैं।

वे एक तेजस्वी योद्धा और प्रतिभावान शासक थे। उन्होंने हिन्दुत्व की रक्षा में अपना जीवन लगा दिया। अपने जात्यभिमान की रक्षा के हेतु उन्होंने मुसलमानों से अनेक युद्ध किए और उनके गर्व को खर्व किया। वे साधु, महात्माओं और विद्वानों की क़द्र करते थे। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि भूषण उनके दरबारी कवि थे। वे दीन-दुखियों पर दया करते थे। स्त्रियों का आदर करते थे। उनमें एक विचित्र आकर्षण था। इतिहासकार कैफ़ीखाँ ने लिखा है—"शिवाजी की आज्ञा थी कि मसजिदों, स्त्रियों और कुरान का अनादर न किया जाय।"

इसमें संदेह नहीं कि शिवाजी एक महान पुरुष थे। उन्होंने हिन्दू-जाति के सिर से कायरता का कलंक हटा दिया। उन्होंने जो कुछ करके दिखाया उस पर इतिहासकारों को आश्चर्य होता है, और सदा होता रहेगा।

कवि तुलसीदास

भारत में हिन्दू-राज्य का पतन होते-होते तीन सौ वर्ष लगे थे। यह काल युद्ध और संघर्ष का काल था। चौदहवीं शताब्दी के साथ-साथ इस काल का अन्त हुआ। इस लंबे अरसे को साहित्यिक पर्यालोचन की दृष्टि से हम वीर-गाथा-काल कह सकते हैं, क्योंकि युद्ध और संग्राम के इस युग में किसी को दूसरा रस भाता ही कहाँ से ? चारणों की ओजपूर्ण, वीर-रस-प्रवाहिनी वाणी ही सर्वत्र सुनाई पड़ती थी। तलवारों की झनझनाहट और ढालों की टक्कर के उपयुक्त यही वाणी थी भी।

चौदहवीं शताब्दी का अन्त होते-होते मुस्लिम-विजय पूर्ण हो गई। यहाँ पर एक बात ध्यान देने की है, कि मुस्लिम विजेताओं ने राजनीतिक विजय पर सन्तोष नहीं किया। वे साथ-साथ धार्मिक विजय की बराबर चेष्टा करते रहे। उनकी धर्मान्धता ने विजित और निराश हिंदू-जाति में प्रतिक्रियात्मक भावों की उत्पत्ति में सहायता प्रदान की। किंतु कोई शक्तिशाली अवलंब न पाने से उसकी हाय स्वभावतः दयामय परमेश्वर की शरण में जाने लगी, उन्हीं को अपना एक-मात्र उद्धारकर्त्ता और प्रश्रयदाता मानने लगी। उसी का फल भक्ति-मार्ग के प्रतिपादक महात्माओं की

वाणी है। इस भक्ति-काव्य का समय १५वीं शताब्दी से १७वीं शताब्दी के अन्त तक है। इस काल में दो धाराएँ देखने में आती हैं, एक निर्गुण-धारा और दूसरी सगुण धारा। निराशा के प्रथम युग में जो खेवा आया वह निर्गुणरूप की उपासना में ही संतुष्ट रहा, क्योंकि उसे अत्याचारी शासकों का विरोध करने की परिस्थिति प्राप्त नहीं थी। उसने भक्ति के उसी अंश को ग्रहण किया जिसकी मुसलमानों के यहाँ भी जगह थी। कबीर इस धारा के मुख्य कवि हैं। दूसरी धारा के कवियों ने भगवान् का वह रूप लिया जो अत्याचारियों का दमन और दुष्टों का नाश कर सकता है। इनकी भक्ति का स्वरूप आशा, उत्साह और साहस से परिपूर्ण है। इस धारा के प्रमुख विधायकों में सूर और तुलसी मुख्य हैं। सूर ने भगवान् का हँसता-खेलता बालक्रीड़ा सुलभ रूप दिखाकर जीवन में हँसी-खुशी का साम्राज्य स्थापित किया। तुलसी ने उनसे भी आगे बढ़कर भगवान् का जीवन-व्यापार-व्यापी, लोकमंगलकारी रूप चित्रित किया जिससे हताश हिन्दूजाति में पुनर्जीवन, आशा और शक्ति का अभूतपूर्व संचार हुआ।

गोस्वामी तुलसीदास का जन्म संवत् १५५५ वि० में और मृत्यु १६८० वि० में हुई थी, ऐसा माना जाता है। उनका जन्म-स्थान बाँदा जिला का राजापुर ग्राम विद्वानों ने निश्चित किया है। उनके पिता का नाम आत्माराम और माता का नाम हुलसी था। वे सरयूपारीण ब्राह्मण थे। कहते हैं कि उन्हें अपनी स्त्री से बड़ा प्रेम था और वे उसे एक क्षण के लिए भी छोड़ना पसन्द न करते थे। एक बार उनकी स्त्री बिना कहे नैहर चली गई। गोसाईं जी से न रहा गया। वे भी वहीं जा पहुँचे। यह देख उनकी स्त्री बड़ी बड़ी लज्जित हुई और बोली—

"लाज न लागत आपु को, दौरे आयहु साथ।
धिक धिक ऐसे प्रेम को, कहा कहौं मैं नाथ॥
अस्थि-चरममय देह मम, तामें जैसी प्रीति।
तैसी जो श्रीराम महँ, होति न तौ भव-भीति॥"

पत्नी की इस एक उक्ति ने उन्हें सदा के लिए संसार से विरक्त कर दिया।

वैराग्य ले लेने पर गोसाईं जी ने मुख्य-मुख्य तीर्थों की यात्रा की। पीछे आकर कई वर्षों तक चित्रकूट में वास किया। यहीं उन्होंने रामगीतावली और कृष्णगीतावली की रचना की [संवत् १६२८]। इसके अनन्तर अयोध्या में रहकर १६३१ में उन्होंने रामचरितमानस की रचना आरम्भ की। अन्त में वे काशी में रहने लगे, और अन्तकाल तक वहीं रहे।

इस प्रकार अपने लंबे जीवन में गोस्वामी जी ने जीवन के समस्त क्षेत्रों का आनन्द और अनुभव प्राप्त किया। गोस्वामी जी की काव्यकला, उनकी अनन्य भक्ति, उनका प्रकृति-निरीक्षण उनका मनोविज्ञान, उनकी चरित्र-सृष्टि सभी कुछ अपूर्व हैं। इसका कारण यही है कि उनका निरीक्षण जीवनव्यापी था? यदि ऐसा न होता तो सब दृष्टियों से सांगोपांग रामचरितमानस जैसे ग्रन्थ की रचना वे कैसे कर पाते! आचार्य केशवदास ने अनेक प्रकार के छन्द रचे हैं सही, पर छन्द-रचना के मर्म को केवल तुलसीदास ने ही समझा था। उन्होंने अपने समय में प्रचलित तमाम शैलियों पर रचना की है और मज़ा यह कि प्रत्येक शैली में अपनी विशेषता को कायम रक्खा है। ऐसी कोई शैली नहीं जिस में उन्होंने परिष्कार न किया हो। जायसी की लेखनी जिस शैली को जन्म दे चुकी थी उसी पर रामचरितमानस का प्रणयन हुआ,

और इस रूप में हुआ कि पद्मावत विद्वानों के पढ़ने की चीज़ मात्र रह गई और रामचरितमानस ने घर घर प्रवेश पाया, प्रत्येक जिह्वा को पवित्र किया। राजा और रंक, पढ़े और अनपढ़, गायक और कवि, भिक्षुक और संन्यासी सबके गले का वह हार हो गया। त्यागियों ने उसमें त्याग का आदर्श पाया, विरक्तों ने उसे वैराग्य का सोपान समझा, धार्मिकों ने उसमें धर्म की प्रतिष्ठा देखी, ब्रह्मचारियों ने उसमें ब्रह्मचर्य की महिमा प्राप्त की, भक्तों ने उसे भक्ति का स्वच्छ निर्मल दर्पण माना तथा गृहस्थों ने आदर्श गृहस्थी का उसमें सर्वांगपूर्ण चित्रण पाया। यदि गोसाईं जी केवल रामचरितमानस ही लिख जाते तो भी वे हिन्दी कवियों में शीर्ष-स्थान पाने के अधिकारी होते, इसमें संशय नहीं। भारत में यदि सबसे अधिक किसी पुस्तक का प्रचार हुआ है तो इसी का।

गोसाईं जी अनन्य भक्त थे, इसमें दो मत नहीं हो सकते। ऊपर उनके जीवन-चरित्र में हम यह बात देख चुके हैं, कि यह अनन्यता उनमें आरम्भ से वर्तमान थी। गार्हस्थ्य-जीवन में स्त्री के प्रति जो प्रगाढ़ प्रेम था, वही संन्यास लेने पर भगवत्-भक्ति में बदल गया। तभी तो हृदय के अन्तरतम प्रदेश से वे यह कहने में समर्थ हो सके, कि—

नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये,
सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा।
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुंगव निर्भरां मे,
कामादि दोषरहितं कुरु मानसं च॥

यह वास्तव में एक सच्चे भक्त के हृदय का उद्गार है। यही कारण है कि गोस्वामी जी अपने काव्य में स्थल-स्थल पर अपने भक्ति-रस की वर्षा करते जाते हैं। गोस्वामी जी की कविता को

हम उनकी भक्ति-भावना से अलग करके देख भी नहीं सकते। भक्तिरूपी प्राण अलग करके उनकी कविता को देखना मुर्दे की चीर-फाड़ करने के समान होगा।

यों तो गोस्वामीजी के रचे हुए चौदह ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं और सभी अपनी अपनी विशेषता रखते हैं, पर रामचरित-मानस और विनय-पत्रिका उन सबमें प्रधान हैं। रामचरित-मानस के संबंध में ऊपर कहा जा चुका है। विनय-पत्रिका राग-रागिनियों में लिखा हुआ विनय के पदों का संग्रह है। इसका विषय इसके नाम से ही प्रत्यक्ष है। गोसाईं जी ने राम के दरबार में जो प्रार्थना-पत्र भेजा है, वही पदों में लिखा गया है। विद्वानों का मत है कि इस ग्रन्थ में गोस्वामी जी का कवित्व, पांडित्य, शब्द-भांडार, वाक्पटुता, अर्थगौरव और उक्तिवैचित्र्य सभी कुछ पराकाष्ठा को पहुँच गया है, किन्तु उनका यह अमूल्य ग्रन्थ सर्वसाधारण की सम्पत्ति नहीं है, सर्वसाधारण की चीज़ बनने का श्रेय तो सबसे अधिक रामचरित-मानस को ही प्राप्त है।

गोस्वामी जी केवल कवि ही नहीं थे, किन्तु सूक्ष्म विचारक और दूरदर्शी भी थे। हिंदू समाज में उनसे पहले मत-मतान्तरों की कमी नहीं थी। शैव वैष्णवों को और वैष्णव शैवों को तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे। गोस्वामी जी ने अपने वाक्यों में बड़ी सुन्दरता से उनका समन्वय करा दिया। राम के द्वारा शिव की पूजा कराकर और शिव को राम का अनन्य स्नेही और भक्त बनाकर उन्होंने प्रचलित द्वेष-भाव के मूल में ऐसा कुठाराघात किया कि उसका अस्तित्व ही लोप हो गया। तमाम देवताओं के प्रति अपनी श्रद्धा की अंजलि चढ़ाते हुए भी अपने इष्टदेव की आराधना और भक्ति की जा सकती है, उसमें कोई रुकावट नहीं

पड़ती; अपने उदाहरण द्वारा यह प्रत्यक्ष करके उन्होंने साधारण जनता में धार्मिक सहनशीलता का भाव भर दिया। गोस्वामी जी पर महिलाओं की निन्दा का दोषारोपण किया जाता है, पर यह ठीक नहीं है। उन्होंने केवल स्त्री के वासनात्मक रूप की निन्दा की है। जहाँ मातृत्व, पत्नीत्व, और देवीत्व का प्रसंग आया है वहाँ उन्होंने उनकी शतमुख से प्रशंसा की है। यदि स्त्री-जाति की निन्दा करना ही उन्हें अभीष्ट होता तो सीता, सती, अनुसूया और सुमित्रा की अवतारणा वे कैसे कर पाते ?

अन्त में हम यह कहने को बाध्य होते हैं कि कविवर तुलसीदास प्रत्येक दृष्टि से, हिंदी साहित्य के लिए और हिन्दू जाति के लिए, ईश्वरीय देन थे। उन्हीं की कृपा का फल है कि हम आज हिंदू जाति को उसके वर्तमान रूप में देख रहे हैं और उन्हीं की विभूति से आज हिंदी अपना मस्तक उठाकर भारत की अन्य भाषाओं के सामने अपनी महिमा प्रदर्शित कर सकती है। किसी महाकवि ने अपनी भाषा, अपनी जाति और अपने राष्ट्र को जो कुछ दिया है, तुलसीदास ने उससे कहीं अधिक हिंदी भाषा और हिंदू-जाति को दिया है। अपने इस महाकवि का ऋण हम कभी उतार नहीं सकते।

शंकराचार्य

संसार के प्रसिद्ध धर्म-संस्थापकों,महान उपदेष्टाओं और प्रकांड विद्वानों में शंकराचार्य का भी एक विशेष स्थान है। उन्होंने अपने छोटे से जीवन में जो काम किया था, वास्तव में उसका मूल्य नहीं आँका जा सकता। उन्होंने विरोधी और विक्षुब्ध वायुमंडल में अपना कार्य आरंभ किया था तथा अपनी विद्वत्ता के बल पर अपनी अमोघ तर्कशक्ति के द्वारा, एवं अपनी विलक्षण प्रतिपादन शैली के सहारे अभूतपूर्व सफलता के साथ उसे पूर्ण किया। उनकी वाणी में जादू था, श्रोता सुनकर मन्त्र-मुग्ध हो जाते थे। उनकी विद्वत्ता में धाक थी। उनमें महापुरुषों के सभी सुलक्षण मौजूद थे।

उन्होंने भारत का कोना-कोना छान डाला था। उनका जन्म सुदूर मलाबार प्रदेश में पूर्णा नदी के तट पर स्थित, 'कालटी' नामक ग्राम में हुआ था। उनके पिता का नाम शिवगुरु और माता का नाम कामाक्षी था। यह विक्रम संवत् ८४५ की बात है। उस समय बौद्ध धर्म में अनेक बुराइयाँ आगई थीं। लोग भगवान बुद्ध द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों से बहुत दूर पहुँच गये थे। व्यावहारिक जीवन में बौद्धधर्म का वैसा आकर्षण न रह गया था। उसके पतन के ऊपर अनेक प्रकार के छिछले और क्षुद्र विचारों का प्रचार हो रहा था। जनता धर्मगुरुओं और उनकी बेढंगी व्यवस्थाओं से परेशान होगई थी। सबके कान किसी सार्वभौम व्यवस्था को सुनने

के लिए उत्सुक थे। तंत्र-मंत्रों की अमोघता में सर्व-साधारण का विश्वास न रह गया था। उसी समय शंकर ने जन्म लिया था।

जिस प्रकार अन्य महापुरुषों के विषय में अनेक प्रकार की असाधारण किंवदन्तियाँ समय पाकर जनता में प्रचलित हो जाती हैं; उसी प्रकार स्वामी शंकराचार्य के सम्बन्ध में भी सहस्रों किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। प्रत्युत उनकी संख्या इतनी अधिक है कि उनके भीतर से ऐतिहासिक तथ्य निकालना भी कठिन हो जाता है। उनका जन्म, उनका विद्याध्ययन, उनका संन्यास, उनका प्रचार कोई भी विषय ऐसा नहीं है, जिसके सम्बन्ध में अलौकिक चमत्कार-पूर्ण कहानियाँ न गढ़ी गई हों। जिस समय उनके भक्तों ने इस प्रकार की किंवदन्तियाँ प्रचलित की होंगी, वह समय इस प्रकार के विचारों के अनुकूल होगा। आजकल तो तर्क-संगति और वैज्ञानिक-परीक्षण के बिना प्रत्येक असंभव बात पर जनता को विश्वास करा देना शक्य नहीं है। तथापि नीर-क्षीर-विवेकी विद्वानों ने उसका विश्लेषण करके जो तथ्य स्थिर किये हैं उनके अनुसार कहा जा सकता है कि शंकराचार्य अपने बालपन से ही बड़ी विलक्षण प्रतिभा वाले थे। इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि वे अपनी आठ साल की उमर में ही गहन शास्त्रीय विषयों को समझ एवं उन पर विचार कर सकते थे, तथा उनकी सांसारिक जीवन पर विशेष आस्था न थी। उनका ध्यान विरक्ति की ओर विशेष रहता था। इसी समय उनके पिता शिवगुरु का देहावसान हो गया। पिता की मृत्यु ने उनकी विरक्ति की भावना को और भी अधिक बढ़ाया, तथा संसार की असारता की छाप उनके हृदय पर लगा दी।

एक संन्यासी के संसर्ग में आने पर उन्होंने उससे दीक्षा देने की प्रार्थना भी की थी, पर उस संन्यासी ने कह दिया था,

कि जब तक तुम्हारी माता तुम्हें संन्यास लेने की अनुमति न दे दें तब तक तुम्हारा संन्यास सफल नहीं होगा । अतः वे उस दिन की प्रतीक्षा करने लगे और अन्त में उन्होंने माता की अनुमति प्राप्त कर ही ली। माता की अन्तिम इच्छा को, कि संन्यासावस्था में भी वर्ष में एक बार वे उसे अवश्य दर्शन देंगे, उन्होंने स्वीकार कर लिया था।

गृह-त्याग कर वे विशेष शास्त्रीय अध्ययन के लिए एक गुरुकुल में पहुँचे। इस गुरुकुल के अधिष्ठाता श्रीगोविन्दपाद नाम के एक ब्राह्मण थे। वे अपनी विद्वत्ता, कर्मनिष्ठा और त्याग के लिए समस्त दक्षिणभारत में प्रख्यात थे। उनका शिष्यत्व स्वीकार कर के शंकर शास्त्रों का अध्ययन और योग की शिक्षा प्राप्त करने लगे। उनके देदीप्यमान मुखमंडल और उनकी बुद्धि की विलक्षण प्रखरता को देख कर उनके गुरु उन पर प्रसन्न थे। योगशास्त्र में पारंगत हो जाने पर, उनकी मनोवृत्ति से परिचित, उनके गुरु गोविन्दपादाचार्य ने उन्हें संन्यास धर्म की दीक्षा दी। गुरु की आज्ञा और आशीर्वाद पाकर वे आश्रम से निकले। निकलते ही देशभर में घोषणा कर दी कि एकमात्र सनातन वैदिक धर्म ही सार्वभौम धर्म है। यदि किसी को इस में शंका हो तो शंकर उसके निवारण करने अथवा इस विषय पर किसी से शास्त्रार्थ करने को तैयार है।

देश भर में जगह जगह अनेक शास्त्रार्थ हुए। विपक्षियों ने उन्हें परास्त करने के अनेक उपाय किये, लेकिन उनकी विलक्षण प्रतिभा के सामने सबको मुँह की खानी पड़ी। उन्होंने कितने ही बौद्ध राजाओं को हिन्दू धर्म की दीक्षा दी। कितने बौद्ध विद्वानों के विचारों में क्रांति उपस्थित कर दी। उन्होंने भारत के एक सिरे से दूसरे सिरे तक घूम-घूम कर अपनी विद्वत्ता और सनातन-धर्म

की ध्वजा फहराई। उनकी इसी यात्रा को शंकर-दिग्विजय कहा जाता है। अपनी दिग्विजय को चिरस्थायी करने के लिए उन्होंने चारों दिशाओं में शृंगेरीमठ, शारदामठ, गोवर्धनमठ और जोशीमठ, इन चार विद्यापीठों की स्थापना की। कहना नहीं होगा कि इन विद्यापीठों ने उनके कार्य को सफल बनाने में आगे चलकर बहुत कुछ योग प्रदान किया है।

उनके इस धर्मप्रचार के कार्य में विरोधियों ने बाधाएँ उपस्थित करने के बहुत-से प्रयत्न किये, किंतु उन्होंने उनकी तनिक भी परवाह न की। अन्त में उन्होंने प्रसिद्ध विद्वान मंडनमिश्र और उसकी विदुषी पत्नी सरस्वती देवी को शास्त्रार्थ में पराजित किया। उन्हें अपने धर्म में सम्मिलित करके अपने शेष कार्य को पूरा कराने में उनसे बड़ी सहायता ली।

अब तक हम देखते आरहे हैं कि शंकराचार्य केवल बड़े भारी धर्मोपदेशक अथवा धार्मिक विजेता मात्र थे। किन्तु नहीं, वे बड़े गम्भीर विचारक और सफल लेखक भी थे। उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की है। उनके विशाल पांडित्य के आगे आज भी विद्वान नतमस्तक होते हैं। प्रस्थानत्रयी—गीता, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र—पर उनके भाष्य आज भी पंडितों में प्रामाणिक माने जाते हैं। उनकी धाराप्रवाह भाषा और अकाट्य प्रतिपादन शैली के तो सभी क़ायल हैं।

उन्होंने अपने समस्त ग्रन्थों में अपना 'अद्वैत सिद्धान्त' प्रतिपादित किया है। यदि और किसी मार्ग पर उन्होंने ज़ोर दिया है तो वह 'निवृत्ति मार्ग' है। उन्होंने यही दिखाने का प्रयास किया है कि क्या उपनिषद्, और क्या ब्रह्मसूत्र, दोनों ही में अद्वैत-तत्व के साथ 'संन्यास-निष्ठा' भी मौजूद है। उनके गीता-भाष्य में भी यही मत

प्रतिपादित है। अद्वैत सिद्धान्त का सार यह है—सृष्टि में दिखाई पड़ने वाली समस्त वस्तुएँ वस्तुतः एक दूसरे से भिन्न नहीं है। सब में एक ही शुद्ध और नित्य ब्रह्म की सत्ता व्याप्त है। यह जो एकता में अनेकता अथवा सृष्टि में भिन्नता भासित होती है, वह उसी की माया के कारण है; वास्तव में आत्मा ही ब्रह्म है। इस आत्मा और परमात्मा की एकता का अनुभव किये विना मोक्ष नहीं मिलता। इस अनुभव को प्राप्त कराने का सब से सरल मार्ग निवृत्तिमार्ग अर्थात् संन्यास है।

इस प्रकार इस महान कार्य को उन्होंने पूर्ण तो कर दिया किंतु काश्मीर यात्रा से लौटते समय उन्हें भगंदर रोग होगया। उसी रोग से अंत में केवल बत्तीस वर्ष की अवस्था में उनकी जीवन-लीला समाप्त हो गई। इस थोड़ी सी अवस्था में उन्होंने जो कार्य करके दिखाया था, उसके उदाहरण इतिहास में बहुत कम मिलते हैं। सिकन्दर महान की महाविजय कुछ इसी तरह की थी; पर वह पशुबल पर अवलंबित थी, और वह शंकराचार्य की आध्यात्मिक विजय की भाँति चिरस्थायी भी नहीं हो सकी। सिकन्दर की मृत्यु के उपरांत ही उसका साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया, जब कि शंकर की विजय हिन्दू-धर्म के साथ अमर है।

कुछ आख्यानात्मक निबन्धों के खाके

आगे विद्यार्थियों की सुविधा के लिए कुछ वर्णनात्मक निबन्धों के खाके दिये जाते हैं, जिनकी सहायता से विद्यार्थी स्वयं निबन्ध लिखने का अच्छा अभ्यास कर सकते हैं।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर

वीरसिंह ज़िला मेदिनीपुर में जन्म। पिता ठाकुरदास बन्द्योपाध्याय, दरिद्र किन्तु कुलीन ब्राह्मण। कलकत्ता में जीविकोपार्जन।

विद्याध्ययन—प्रथम गाँव की पाठशाला में, ९ वर्ष की आयु में संस्कृत-कालेज कलकत्ता में प्रवेश। परिश्रमी और कुशाग्रबुद्धि सम्पन्न। सब श्रेणियों में सर्वप्रथम उत्तीर्ण। लगभग ग्यारह वर्ष तक अध्ययन। तदुपरान्त अध्यापन। बीस वर्ष की अवस्था में "विद्यासागर" उपाधि की प्राप्ति।

फोर्ट विलियम कालेज में मुख्य पंडित के पद पर। क्रमशः कालेज के सहकारी अध्यापक, फिर अध्यक्ष। संस्कृत-ग्रंथों का लेखन। शिक्षा-विभाग में सब-इंसपैक्टर। तीन वर्ष बाद सरकारी नौकरी से त्याग-पत्र। शेष जीवन भर देश और समाज-सुधार।

विधवा-विवाह के समर्थक और प्रचारक। बाल-विवाह, अनमेल विवाह और बहुविवाह के विरोधी। बंगसाहित्य में नवजीवन फूँकनेवाले। होमियोपैथिक चिकित्सा के प्रेमी और उसके प्रतिष्ठापक। दया के अवतार। बड़े ज़बरदस्त सुधारक। स्वभाव की सरलता सराहनीय।

सन् १९८१ में ७१ वर्ष की आयु में शरीरान्त। मृत्यु के उपरान्त प्रभाव। परिस्थितियों को वश में करनेवाले। सामान्य कुल में जन्म लेकर देशविख्यात पुरुषों में अग्रगण्य।

कालिदास

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के दरबारी कवि। समय चौथी शताब्दी का अन्त और पाँचवीं शताब्दी का आरंभ। वर्ण ब्राह्मण। वंश गोत्र आदि का पूरा निश्चय नहीं।

कहते हैं कि बाल्यकाल में एकदम मूढ़ थे। कुछ विद्वान् पंडितों के षड्यंत्र के कारण विद्यावती नाम्नी विदुषी से विवाह। पत्नी-द्वारा तिरस्कृत और बहिष्कृत। लज्जा और ग्लानि से विद्याध्ययन में संलग्न। विद्याप्राप्ति के बाद घर लौटना। बुद्धि और प्रतिभा का प्रकाश। रघुवंश, मेघदूत, कुमारसंभव काव्यों की रचना। अभिज्ञानशाकुन्तल, विक्रमोर्वशी और मालविकाग्निमित्र नाटकों का प्रणयन। कवियों की श्रेणी में सर्वप्रथम।

सरल, मधुर और सीधी भाषा। उपमा की उत्कृष्टता के लिए विख्यात। चरित्र-चित्रण में पंडित। हृदयहारी और स्वाभाविक वर्णन करने में पटु। मनोभावों का चित्र खींचने में एक ही। भारतीय साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवि।

संसार के श्रेष्ठ कवियों में उनका स्थान। देशी-विदेशी कवियों, विद्वानों और कलाकारों का उनके संबंध में मत। उनके ग्रन्थों का देश-देशान्तरों में आदर। अन्य विश्व-कवियों के साथ उनकी तुलना।

शकुन्तला

राजर्षि विश्वामित्र और मेनका अप्सरा की कन्या। माता द्वारा मालिनी नदी के तट पर त्यागी गई। कण्वऋषि की उस पर दृष्टि पड़ना। शकुन्त पक्षियों द्वारा रक्षित होने से शकुन्तला नाम। कण्व का उसे धर्म-पुत्री करके आश्रम में रखना और पालन पोषण करना। वल्कल-धारिणी ऋषि-कन्याओं के साथ उसका रहना और कन्द मूल खाना।

राजा दुष्यन्त का आश्रम में आगमन। शकुन्तला का दर्शन, और उस के रूप पर मुग्ध होना। शकुन्तला का राजा दुष्यन्त के प्रति प्रेम। कण्व की अनुपस्थिति में दोनों का गांधर्व विधि से विवाह। दुष्यन्त का राजधानी को प्रस्थान। शकुन्तला की प्रतीक्षा, कि कब उसे राजधानी से कोई लेने आवे। स्मृतिचिह्न-स्वरूप दुष्यन्त की अँगूठी लेकर रहना। दुखी शकुन्तला, दुर्वासा का आगमन। शकुन्तला का उनके स्वागत में तत्परता न दिखा पाना। ऋषि का क्रोध, और शाप, कि "तू जिसके ध्यान में बेसुध होकर एक महर्षि का अनादर कर रही है वह मिलने पर तुझे भूल जायगा।"

कण्व का आगमन। यह जानना कि शकुन्तला गर्भवती है। शकुन्तला को पति के यहाँ जाने की स्वीकृति देना। पिता के शिष्यों के साथ शकुन्तला का आश्रम त्याग। विदा का मर्मस्पर्शी दृश्य। मार्ग में एक सरोवर में अँगूठी का खो जाना। दुष्यन्त के सामने शकुन्तला। राजा का उसे भूल जाना और पत्नीरूप में स्वीकार न करना। ऋषि-कुमारों का शकुन्तला को छोड़कर प्रस्थान। शकुन्तला का अन्तर्धान होना। मछुए से अँगूठी प्राप्त कर राजा को शकुन्तला की सुध आना। राजा का अनुताप करना। स्वर्ग से लौटते समय कश्यप ऋषि के आश्रम में राजा का शकुन्तला के गर्भजात पुत्र भरत को देखना और प्रसन्न होना। दुष्यन्त और शकुन्तला का पुनर्मिलन। राजा का शकुन्तला को स्वीकार करना।

अहिल्याबाई

मालवा प्रदेश के पाथरडी गाँव में सन् १७३५ में जन्म। पिता का नाम आनन्दराव। बड़े सज्जन और ईश्वरभक्त।

बचपन में शिक्षा प्राप्ति। बड़ी चतुर और समझदार। नौ वर्ष की अवस्था में मल्हारराव होल्कर का उन्हें देखना और बालिका के गुणों पर मुग्ध होना। अपने लड़के के लिए अहिल्या की याचना। खंडेराव और अहिल्या का विवाह।

ससुराल में सेवा से सास-ससुर को संतुष्ट करना। सब लोग प्रसन्न। घर के कामकाज अपने हाथ से करना। एक पुत्र और कन्या का प्रसव। बीस वर्ष की अवस्था में विधवा होना। पुत्र का भी देहावसान। राज-काज का भार उन्हीं के ऊपर। न्याय और प्रजा-पालन में दुःख भूल जाना। भीलों के उपद्रवों को शांत करना। रघुनाथराव को लज्जित करके रणक्षेत्र से विमुख करना। राज्य में सुधार और प्रजाहित के कार्य। मुक्तहस्त होकर दानधर्म करना। तीर्थों में मन्दिर और धर्मशाला निर्माण कराना। सदाव्रत लगाना। कुएँ खुदवाना।

स्वभाव की सरलता और धैर्य। धर्मपरायणता और सहृदयता। चरित्र की निर्मलता और न्यायपरायणता। रानी नहीं देवी। वैधव्य और पुत्रशोक को सहना। पुत्री को अपनी आँखों से सती होते देखना, आँसू न गिराना। भारत के लिए गौरव। स्त्री जाति की भूषण। प्रातः स्मरणीया। सन् १७९५ में स्वर्गवास। अब तक सबकी ज़बानों पर उनका नाम।

सुकरात

यूनान देश में ई० पू० ४६९ में जन्म। पिता संगतराश और माता दाई का काम करती थीं। सादी और गरीबी की जीवनचर्या में लालन-पालन।

विद्याध्ययन—सब प्रकार की शिक्षा। रेखागणित और ज्योतिष में विशेष प्रवृत्ति दिखाना। विद्यार्जन के उपरांत सेना में प्रवेश। कई युद्धों में पराक्रम-प्रदर्शन। परिश्रम और कष्ट-सहिष्णुता का अपूर्व परिचय। सैनिक जीवन के उपरांत धर्म-तत्त्व, नीति, विज्ञान, दर्शन और राजनीति का उपदेश देना। तर्क की अद्भुत प्रणाली।

नास्तिकता का आरोप। युवकों को पथभ्रष्ट करने का लांछन।

न्यायालय का फैसला। विष का प्याला पीने का दंड। बन्दी-जीवन में अलौकिक धैर्य और शान्ति का प्रदर्शन। अपने को मुक्त कराने का प्रयत्न न करना। अन्तिम काल तक प्रसन्न, शान्त और सुखी बने रहना। बड़े आनन्द से विष को पी जाना। ३९९ ई० पू०।

शान्त, क्रोध-रहित स्वभाव। तत्वज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ।

दयानंद-शताब्दी

दयानन्द का परिचय। आर्यसमाज के जन्मदाता। शिवरात्रिव्रत के समय चुहिया को भोग को जूठा करते देखकर मूर्तिपूजा पर से श्रद्धा उठ जाना। सुधारक के रूप में महर्षि दयानन्द। उन्हीं की पुण्य-स्मृति में संवत् १९८१ विक्रमीय का शिवरात्रि-सप्ताह दयानन्द-शताब्दी-उत्सव के रूप में मथुरा नगर में बड़े समारोह से मनाया गया।

शताब्दी-मेले का जनसमुदाय। सुन्दर प्रबन्ध। किसी को किसी प्रकार की असुविधा नहीं। आर्य-जीवन। रात्रि और प्रातःकाल की चर्या। यज्ञमंडप। वेदमन्त्रों के साथ हवन और अग्निहोत्र। अन्य सभा-समितियाँ, आर्य-कुमार सभा, कवि सम्मेलन, आर्यस्वराज्य सभा, अछूतोद्धार सभा, शुद्धिसभा आदि। गुरुकुल के ब्रह्मचारियों, संन्यासियों, विद्वानों और कवियों का जमघट। प्रधान मंडप का दृश्य। जुलूस और नगर-कीर्तन। स्वयं-सेविकाओं और स्वयं-सेवकों की तत्परता। धार्मिक वातावरण।

अशोक और कनिष्क के समय के बड़े बड़े धार्मिक-सम्मेलनों से तुलना।

मराठा-जाति

महाराष्ट्र देश की भौगोलिक दशा। निवासियों पर उसका प्रभाव। स्वतंत्रता का भाव और देश की नैसर्गिक स्थिति का परस्पर सम्बन्ध। स्वाधीनता की रक्षा करने में देश की स्थिति का सहयोग।

महाराष्ट्र जीवन में जाग्रति। संत महात्माओं के स्वदेश, स्वधर्म और स्वजाति-रक्षण के उपदेश। शासन-संचालन में मराठा-जाति की दक्षता। शिवाजी का उत्कर्ष। शिवाजी और जातीयता। विधर्मी और विदेशी सत्ता से शिवाजी का संघर्ष। जातीयता की भावना का देश में स्वागत। शिवाजी और मराठा जाति का अभ्युदय। शिवाजी के बाद की दशा। जातीयता का ह्रास। परस्पर फूट और वैमनस्य। मराठा साम्राज्य का पतन। वर्तमान अवस्था और जातीयता की भावना।

बाढ़

अतिवृष्टि के फलस्वरूप नदियों का जल भयंकररूप से बढ़ जाना। किनारों की लाँघकर जलराशि का इधर-उधर के प्रदेश में फैल जाना।

धन-जन की हानि। गाँवों और बस्तियों का जलमग्न हो जाना, खेतों का डूब जाना। पशुओं और मनुष्यों का बह जाना। १९२४ की बाढ़ का प्रलयंकर दृश्य। भयंकर और प्रखर प्रवाह में किश्तियों तक का न ठहर सकना। मीलों तक जल ही जल। बहे जाते हुए वृक्ष, पशु, जंगली जानवर, विषैले साँप, सुअर आदि। डाक आदि का आना-जाना बंद। हवाई जहाज़ से उस बाढ़ का दृश्य। बाढ़पीड़ित लोगों की दशा। स्त्री की गोद का बालक बाढ़ की भेंट। अनाथ बालक के माता-पिता दोनों जलमग्न। एक विधवा का सर्वस्व नष्ट। चालीस पचास आदमियों के सम्पन्न परिवार में से केवल एक वृद्धा शेष। बाढ़ दैवी-प्रकोप। मनुष्य का उस पर वश नहीं।

बाढ़ के उपयोगी पहलू पर विचार। सृष्टि का कोई व्यापार केवल सदोष या केवल निर्दोष नहीं। बाढ़ से उपजाऊ मिट्टी का मैदान में बिछ जाना।

उपसंहार। दोष ही अधिक व्यापक।

अग्निकांड

जीवन के लिए आग आवश्यक। पर अग्निकांड का रूप धारण करने पर उसका प्रलयंकर विकराल रूप।

प्रायः असावधानी के कारण अग्निकांड होते हैं। बस्तियों में अग्निकांड। मकानों, दुकानों और कारखानों में आग से लाखों की संपत्ति स्वाहा। जीवन की हानि। जंगलों में अग्निदाह। सूखे पेड़ों की डालियों की रगड़ से अग्नि-प्रज्वलन। वायु के साथ उसका फैलना। सघन सुन्दर वनों का श्मशानों में परिणत हो जाना। वन्य-जीवों का भयभीत होना बहुतों का भस्म हो जाना।

बड़े बड़े नगरों में नगरसभाओं (Municipal Boards) की ओर से प्रबंध, आग बुझाने की कल आदि। वनों में आग की बाड़ देकर आग को फैलने से रोकना आदि।

किसी बड़े अग्निकांड का वर्णन। स्काउटों और स्वयंसेवकों की अग्निकांड में सेवा।

विश्व-विद्यालय

वह शिक्षण-संस्था जो उच्च शिक्षा वितरण करती हो या उच्च शिक्षा प्राप्ति के प्रमाणपत्र देती हो।

प्राचीन इतिहास। भारत के प्राचीन विश्वविद्यालय—तक्षशिला, नालन्दा आदि। अन्यान्य सभ्य देशों के विश्वविद्यालय। एथेंस की एकेडेमी आदि।

विश्वविद्यालयों का विकास और उनका सुव्यवस्थित रूप। उत्तरोत्तर वृद्धि। दुनियाँ के आधुनिक विश्वविद्यालय, आक्सफोर्ड, कैंब्रिज, पैरिस आदि के विश्वविद्यालय। भारत के विश्वविद्यालय, बंबई, कलकत्ता, मद्रास, ढाका, आगरा और पंजाब के विश्वविद्यालय। हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी। मुस्लिम विश्वविद्यालय अलीगढ़। प्राइवेट विश्वविद्यालय—गुरुकुल काँगड़ी, विश्वभारती आदि। यू॰ पी॰ विश्वविद्यालयों का प्रान्त।

विश्वविद्यालयों की अपनी-अपनी विशेषताएँ। कोई शिक्षा-प्रधान, कोई परीक्षा-प्रधान। किसी में विज्ञान, किसी में साहित्य और किसी में व्यापार की शिक्षा का विशेष प्रबन्ध।

कार्यकर्त्ता और प्रबंध—सिंडिकेट कार्यवाही करती है। वाइस-चांसलर, रजिस्ट्रार आदि कार्यकर्त्ता।

लाभ—उच्च शिक्षा की उन्नति। सभ्यता और संस्कृति का अभ्युदय किन्तु शिल्प की उन्नति की ओर रुचि की कमी।

विश्वविद्यालयों की वर्तमान प्रणाली में सुधार। जीवन की प्रत्येक आवश्यकता को शिक्षा का अंग बनाना। नवीन ढंग के विश्वविद्यालय स्थापित करने की आवश्यकता।

अभ्यास के लिए विषय

(१)अंतिम मुगल सम्राट। (२) स्वामी विवेकानन्द। (३) सिपाही विद्रोह। (४) अहिल्याबाई का राज्य-प्रबन्ध। (५) मीराबाई। (६) सती सीता। (७)महात्मा बुद्ध। (८) गुरुगोविंदसिंह। (९)बन्दा वैरागी। (१०) प्रियदर्शी अशोक। (११) पानीपत का प्रथमयुद्ध। (१२) बक्सर की लड़ाई। (१३) सिक्ख जाति (१४)हज़रत मुहम्मद। (१५) महात्मा ईसा। (१६) बेबिलोन की सभ्यता। (१७) प्राचीन मिस्र। (१८) शाहजहाँ। (१९) नूरजहाँ। (२०) रणजीतसिंह। (२१)धर्मराज युधिष्ठिर। (२२)रामचन्द्र का वनवासकाल। (२३)भरत का जीवन। (२४) ध्रुव। (२५) प्राचीन आर्यजाति। (२६) गुलाम-वंश। (२७) स्वामी रामतीर्थ की विदेशयात्रा। (२८) उन्नीसवीं सदी की कुली-प्रथा। (२९) कृष्णभक्त सूरदास। (३०) दिल्लीदरबार। (३१) चालीसवीं महासभा। (३२) असेंबली की एक विशेष बैठक की कार्यवाही। (३३) श्रीमती एनिबीसेंट। (३४) स्वर्गीय गोखले के संस्मरण। (३५) बंगभंग की कहानी। (३६) स्वप्न की कथा। (३७) दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह। (३८) कुरुक्षेत्र का युद्ध। (३९) रोम का अग्निकांड। (४०) महामारी। (४१) दुर्भिक्ष। (४२) सती-प्रथा। (४३) अरकाट का घेरा। (४४) राणा सांगा। (४५) पृथ्वीराज। (४६) महाराज नन्दकुमार को फाँसी। (४७) असहयोग आन्दोलन। (४८) अमीर खुसरो। (४९) सम्राट अकबर। (५०) देशबंधु चित्तरंजनदास। (५१) मुंशी प्रेमचंद। (५२) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र।

व्याख्यात्मक निबन्ध

मितव्ययिता

प्रयोजन से अधिक खर्च न होने देने का नाम मितव्ययिता है। इससे विपरीत, बेहिसाब और बेसमझे बूझे, खर्च करने को अपव्यय कहते हैं। आदमी बुद्धिमान प्राणी है। वह प्रत्येक कार्य की उपयोगिता और उसके मूल्य का अन्दाज़ा लगा सकता है। वह प्रत्येक कार्य के विषय में सोच सकता है, कि इसका उपयोग हमारे जीवन में कितना है ? जब वह यह सोच लेगा तो सहज ही मितव्ययी होने का प्रयास करेगा। वह उस कार्य में उसी हद तक खर्च करेगा, जहाँ तक हम उसे प्रयोजनीय कह सकते हैं। इसके विरुद्ध यदि कार्य की उपयोगिता के विषय में कोई उदासीन रहे, उसके मूल्य का अंदाज़ा लगाने में अपनी बुद्धि का ज़रा भी उपयोग न करे तो उसका बेहिसाब खर्च करना स्वाभाविक होगा। ऐसी दशा में वह मितव्ययी कैसे हो सकेगा ?

यदि मनुष्य का सारी उमर परिश्रम कर सकना संभव होता, तो मितव्ययिता की आवश्यकता ही न थी। जितना वह आज पैदा करता उतना ही खर्च कर देता। कल के लिए कुछ बचाकर रख छोड़ने का प्रयत्न क्यों करता ! व्यर्थ की अनेक झंझटों से

मुक्ति मिल जाती। न इस कदर चिताएँ होतीं न इतना आडंबर होता। किन्तु वस्तुस्थिति कुछ और ही है। किसी में सारी उमर एक सी शक्ति नहीं रहती। युवावस्था में जो बात होती है वह आधी उमर बीतने पर नहीं रहती और अर्धवयस्कता की समता बुढ़ापा नहीं कर सकता। तात्पर्य यही है कि युवावस्था का उत्साह, परिश्रमशीलता, संलग्नता और शक्ति उत्तरोत्तर क्षीण होती जाती है। पौरुष और सामर्थ्य का ह्रास होता जाता है। बूढ़ा और जर्जर मनुष्य उसी तरह विवश और पराधीन हो जाता है जिस प्रकार बालक। मानव-शरीर के इस स्वाभाविक परिणाम को सुखमय बनाने के लिए मितव्ययिता परमावश्यक है। उस समय युवावस्था के संचित धन की बड़ी ज़रूरत पड़ती है। वही मनुष्य का सहारा होता है। उसके अभाव में उसका जीवन दूसरों की कृपा पर अवलंबित हो जाता है, जिससे अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं।

सृष्टि के आदि-काल में जब मनुष्य सभ्य और सुसंस्कृत नहीं था, जंगली जानवरों की तरह वनों में रहता और फलफूल तथा आखेट आदि पर गुज़र करता था, उस समय मितव्ययिता के बिना काम चल सकता था, पर आजकल तो ईश्वरीय सृष्टि के अन्तर्गत मनुष्य की स्वरचित एक सृष्टि है। उसको इस रूप में लाने में स्वयं मनुष्य कुछ का कुछ हो रहा है। उसका बहुत कुछ विकास हो गया है। उस समय आखेट आदि के द्वारा उसका काम चल जाता था, पर आज वे विध्वंसक कार्य उसे संतोष नहीं दे सकते। अब उसके अन्दर विधायक-वृत्ति विकसित हो गई है। वह सृजन का महत्त्व स्वीकार करने लगा है। आज अगर कोई मनुस्मृति को उससे छीन ले तो वह उसका सबसे बड़ा शत्रु होगा। मतलब यह है कि उसमें दूर-अन्देशी, विचारशीलता तथा कर्तव्य-

बुद्धि का भी विकास हो गया है। अब केवल अपने लिए ही वह नहीं जीता है। उसके आगे उसके बच्चे हैं, परिवार है, जाति है, समाज है और देश है। यदि वह अब भी अपने कार्यों की उपयोगिता पर ध्यान नहीं देगा, उनके मूल्य का ठीक अन्दाज़ नहीं लगाएगा, बिना विचारे खर्च करता जायगा, तो वह अपनी बड़ी भारी ज़िम्मेदारी को पूरा नहीं करेगा। वह उत्तरावस्था में स्वयं तो कष्ट उठाएगा ही, अपने आश्रितों को भी दुख के समुद्र में छोड़ जायगा। इसलिए वर्तमान मनुष्य के लिए मितव्ययिता की आवश्यकता अनिवार्य है। इसके बिना उसका जीवन सफल होना कठिन है।

लोग प्रश्न करते हैं कि मितव्ययिता स्वीकार करने से दान-पुण्य आदि सद्वृत्तियों में रुकावट पड़ती है। किंतु जो ऐसा कहते हैं, वे मितव्ययिता के अशुद्ध अर्थ लगाते हैं। मितव्ययिता कभी सद्वृत्तियों की तृप्ति में बाधक नहीं होती। वह तो यही बताती है कि तुम्हारा दान-पुण्य, दान-पुण्य ही हो। वह तुम्हारे धर्म की वृद्धि करे। ऐसा न हो कि तुम जिसे धर्म समझ रहे हो वह पाप के नाम से तुम्हारे खाते में हो रहा हो। अर्थात् मितव्ययिता बताती है कि तुम उसी को दान दो जो उसका वास्तविक पात्र हो। ऐसा न हो कि तुम्हारा पैसा चरस की चिलमों का धुआँ बनकर उड़ जाय या शराब की बोतलों के साथ बह जाय। वह यह भी बताती है कि उस वास्तविक पात्र को भी उतना ही दो जितने से उसकी आवश्यकता की पूर्ति होती हो। अधिक देने से उसमें प्रमाद और मुफ़्तखोरी की आदत बढ़कर अन्त में बुराई में परिणत हो जायगी। यह सब कहकर मितव्ययिता यह भी कहती है, कि ज़रा अपनी हैसियत की तरफ भी ध्यान रखो। ऐसा न हो, तुम देने की धुन

में सुदामा को तीनों लोक दे डालो। तीनों लोक दान करके फिर खुद कहाँ रहोगे ? इसी विश्व में रहोगे तो फिर पाप करोगे। इस वास्ते अपनी हैसियत से बाहर दान देना भी अहितकर है। दाता जब इस तरह अपने आपको मिटा देगा तो आगे चलकर दीनों की रक्षा कौन करेगा ? इसके लिए अगर आप मितव्ययिता को दोष दें तो भले ही दें। वैसे दोष देने लायक तो वह है नहीं।

कुछ लोग मितव्ययिता और कृपणता को एक ही समझते हैं। अगर किसी को चन्द्रमा काला और आकाश सफेद दीखे तो न तो चन्द्रमा काला और न आकाश सफेद माना जायगा। माना जायगा यही, कि देखने वाले की दृष्टि में कुछ दोष है। इसी तरह कृपणता और मितव्ययिता को एक समझने वालों की बुद्धि भी अवश्य कुछ अस्वस्थ है। ऊपर मितव्ययिता की व्याख्या हम देख चुके हैं। अब कृपणता की व्याख्या को भी देख लीजिए। तब हम सहज ही उनकी समानता-असमानता का निर्णय कर सकेंगे। प्रयोजन से कम खर्च करने को कृपणता कहते हैं, अर्थात् जहाँ चार रुपये खर्च करने की आवश्यकता हो, वहाँ केवल दो या एक ही रुपया खर्च करना कृपणता है। कृपणता काम की अच्छाई-बुराई, उसकी उपयोगिता अनुपयोगिता की ओर सर्वथा उदासीन होती है। उसे इस बात से प्रयोजन नहीं है कि काम कितने महत्त्व का है। उसे तो केवल गाँठ न खुलने देने से प्रयोजन है। उसके सामने तो पाप-पुण्य दोनों समान हैं। एक धन ही उसे इष्ट है। पाप को खोकर भी धन को प्राप्त करने में वह खुश है; इसी तरह पुण्य का त्याग करके भी वह धन को पाने की अभिलाषिणी है। इसलिए कृपणता बुद्धि का विकार है और मितव्ययिता बुद्धि का प्रकाश। उन दोनों को एक कहना भ्रान्त बुद्धि का उदाहरण है।

इसलिए प्रत्येक समझदार आदमी को दूरदर्शिता के साथ व्यय करना चाहिये। व्यय करते समय सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि व्यय के अनुकूल उसे लाभ तथा आदर दोनों प्राप्त हों। बुद्धिमान मनुष्य समय तथा धन का समान सदुपयोग करता है, और स्वयं तथा दूसरों को जिससे कुछ लाभ न हो, न प्रसन्नता हो, ऐसे कामों में वह एक मिनट और एक पैसा भी नहीं व्यय करता। मूर्ख इसके विपरीत निष्प्रयोजन व्यय करके वस्तुओं का बड़ा भारी संग्रह भी कर लेता है, पर जीवन की आवश्यक और सुखदायक वस्तुओं का उसके पास सदा अभाव रहता है। उत्तरा-वस्था में जब शरीर थक जाता है, तब उसे अपनी भूल का पता लगता है, और तब वह अपने किए पर पश्चात्ताप करता है। पर अच्छा तो यह हो कि आदमी पहले से ही वह मार्ग ग्रहण करे जिससे ऐसी घड़ी आने ही न पाए।

स्वावलंबन

संसार में मनुष्य की उन्नति और अभ्युदय के लिए अनेक धर्म-व्यवस्थाएँ, कानून, कायदे और अच्छी से अच्छी संस्थाएँ मौजूद हैं। प्रायः प्रत्येक मनुष्य थोड़ा या बहुत अपनी लाभ-हानि का विचार भी रखता है, किन्तु इससे वह उन्नत होकर अभ्युदय के शिखर पर नहीं चढ़ सकता। यदि वास्तव में उसे कुछ उन्नति करनी है तो उसे स्वयं प्रयत्नशील होना चाहिए। केवल मार्ग का ज्ञान कर लेने से ही निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचना नहीं हो सकता, उसके लिए कमर कसकर चल पड़ना होगा, अपनी कर्मशूरता का परिचय देना होगा। यदि संस्थाएँ और कानून-कायदे हमें अभ्युदय की प्राप्ति करा दें तो भी उसे हम पसंद न करेंगे। वैसी अवस्था में मनुष्य मनुष्य न रह जायगा, उसकी कर्तृत्वशक्ति का सर्वथा अभाव हो जायगा। वह पंगु और निष्क्रिय हो जायगा। विफलता में सफलता की आकांक्षा और सफलता में विशुद्ध आनन्द—यही तो मानव जीवन की स्पृहणीय विभूतियाँ हैं।

हरएक कार्य में स्वयं प्रयत्न किये बिना उसकी सफलता और विफलता से हमें कुछ सरोकार न रह जायगा। ऐसे कार्य हमें उन्नति की ओर नहीं ले जा सकते और न उनसे हमें ऐसी आशा ही करनी चाहिए। उनकी तो विफलता निश्चित है। तभी तो कहा भी है कि, "ईश्वर उन्हीं की सहायता करता है जो अपने भरोसे पर काम करते हैं।" एक छोटा सा शिशु एक स्थान से दूसरे स्थान तक दूसरों की सहायता के बिना अपने बल से चलना सीखता है, उसी प्रकार मनुष्य को चाहिए कि वह भी अपने पैरों पर खड़ा रहना सीखे, तभी उसकी सफलता में संदेह का स्थान न रहेगा।

अपनी सहायता अपने आप करने से यह तात्पर्य भी नहीं है, कि मनुष्य चारों ओर से अपनी आँखें मूँद ले। अन्धों की भाँति आचरण करने लगे। किसी से किसी प्रकार का कोई लाभ न उठाये। न महापुरुषों के उपदेशों से शिक्षा ग्रहण करे, न वैज्ञानिक आविष्कारों से अपने ज्ञान की वृद्धि करे, न महापुरुषों के जीवन-वृत्तों से अपने चरित्रबल को दृढ़ बनावे, न साहित्य और दर्शन से अपनी दृष्टि को व्यापक करे, और न मित्र तथा पड़ोसी के सत्परामर्श पर ध्यान दे, बल्कि प्रत्येक बात में अपनी ढाई ईंट की मस्जिद अलग बनाने लगे। ऐसा करने वाले को हम बुद्धिमान नहीं कहेंगे। स्वावलंबन शब्द को इतने संकुचित अर्थ में लेना महान भूल है। सच्चे स्वावलंबी पुरुष के विषय में किसी विद्वान ने कहा है कि "उसे संसार के किसी पृथक किये हुए पदार्थ की तरह नहीं, बल्कि उसके एक उपयोगी भाग की तरह अकेले खड़ा रहना चाहिए।" तात्पर्य यही है कि यों तो आदमी का काम दूसरों की कुछ न कुछ सहायता बिना इस दुनियाँ में चल ही नहीं सकता। पारस्परिक सहयोग और सहायता से अपने आपको अलग करके

स्वावलंबी बनाने की इच्छावाला यदि कुछ करने में समर्थ भी होगा तो दुनियाँ की आँखों में उसका कुछ भी महत्त्व न होगा। दुनियाँ के चिरकालीन ज्ञान की विरासत की उपेक्षा वह कर ही नहीं सकता।

जीवन में जिन महापुरुषों ने सफलता पाई है, और मनुष्य-समाज में जो महापुरुष पूजित हुए हैं, उनके कामों पर अन्तर्दृष्टि डालने से पता चलता है कि वे स्वावलंबन का महत्त्व समझते थे। उसी को उन्होंने अपने जीवन का मुख्य आधार बनाया था। उन्हें निश्चय था कि स्वावलंबी पुरुष ही उद्योगशील और उत्साही होता है। उदाहरण के लिए हम महाराज शिवाजी को ले सकते हैं। उन्होंने उस समय भारतवर्ष में हिन्दू राज्य कायम किया जब कि मुस्लिम शासन और शौर्य अपनी सर्वोच्च उन्नति पर पहुँच चुका था। जब तमाम राजपूत राजा अपनी स्वाधीनता मुग़ल-सम्राट् के हाथों बंधक रख चुके थे, जातीय गौरव और प्रताप सब धूल में मिल चुका था, तब उस महापुरुष ने अपना जयघोष आरंभ किया। उसने अपनी दृढ़ता, उद्योगशीलता और उत्साह के द्वारा वह कार्य कर दिखाया, जिसने फिर से मृतप्राय हिन्दू-जाति में जीवन-रस की धारा बहा दी। उसी समय के दूसरे महापुरुषों में गुरु गोविन्दसिंह का नाम बड़े आदरपूर्वक लिया जा सकता है। उन्होंने बिखरे हुए मोतियों को बटोरकर एक प्रबल सिक्ख जाति को जन्म दिया, जिसने आगे चलकर भारत के इतिहास को बनाया और बिगाड़ा।

यदि हम उपर्युक्त दोनों महापुरुषों के जीवन पर ज़रा ध्यान दें तो हमें पता चलेगा कि वे स्वावलंबन का कितना महत्त्व जानते थे। उनका हर एक काम उनके धैर्य, उनके आत्मविश्वास और उनके दृढ़ निश्चय पर अवलंबित था। बड़ी से बड़ी कठिनाइयों में वे कभी

विचलित न हुए। उन्होंने कभी अटूट परिश्रम से मुख नहीं मोड़ा। यदि स्वावलंबन के ऊपर उनकी हार्दिक आस्था न होती तो वे इस प्रकार तप कर सोने की तरह खरे कैसे उतरते? वे यदि धैर्य से मुख मोड़ लेते, कठिनाइयों से भय खा जाते और परिश्रम से ऊब जाते तो आज हम कहाँ होते? और उनका भी नाम कौन जानता?

व्यष्टि से ही समष्टि का अस्तित्व है, इसलिए जहाँ व्यक्तिगत स्वावलंबन की ज़रूरत है, वहाँ जाति-गत स्वावलम्बन की हम उपेक्षा नहीं कर सकते। उसकी तो और भी अधिक आवश्यकता है। कारण कि व्यक्ति में स्वावलंबन का अभाव होने से उसका असर जितने क्षेत्र पर पड़ेगा, उससे कहीं अधिक जाति में उसका अभाव होने से पड़ेगा। इतिहास हमें बताता है कि जिन जिन जातियों में जिस समय स्वावलंबन का भाव काम कर रहा था उस समय वे अभ्युदय के शिखर पर थीं। स्वावलंबन का नाश होते ही उनका पतन होगया। जातियों के उद्योग-धंधे, कला-कौशल, व्यापार-व्यवसाय तथा सभ्यता और संस्कृति सब कुछ उनके स्वावलंबन के चिह्न हैं। यही भारत, जब इसमें स्वावलंबन के भाव थे, अपनी कारीगरी की वस्तुओं द्वारा, तमाम यूरोप के बाज़ारों में आदर पाता था। आज हम में स्वावलंबन का अभाव है, हमने अपने पैरों खड़ा होना छोड़ दिया है, तभी तो लज्जा-निवारण के लिए हमें मानचेस्टर की मशीनों की ओर ताकना पड़ता है। इसके विपरीत स्वावलंबिता की जाग्रत मूर्ति जापानी जाति को देखिये। चीन के पदाघात को सहने तक की क्षमता का जिसमें कभी अभाव था आज वह उसे खरीद लेने तक की शक्ति रखती है। उसके कला-कौशल, उसके उद्योग-धंधे हमारी आँखों को चकाचौंध किये हैं।

जिस प्रकार हम इस नतीजे पर आये बिना नहीं रहते कि सांसारिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की उन्नति के लिए स्वावलंबन की बड़ी आवश्यकता है, उसी प्रकार हमें यह स्वीकार करने के लिए भी विवश होना पड़ता है कि जैसे स्वावलंबन व्यक्ति के लिए आवश्यक है उसी प्रकार जाति के लिए भी है। स्वावलंबन को छोड़ देने से हमारी गति नहीं है। तभी तो किसी ने कहा भी है कि—"वह (स्वावलंबी) मनुष्य यथार्थ में पूज्य है जो एकाकी और स्वयं संपूर्ण होकर मरघट तक अपना मार्ग आप रचता है और जो लोकापवाद या प्रशंसा की परवाह न करके सन्देह-स्थानों में केवल अपनी आत्मा का सहारा लेता है।"

आत्मप्रतिष्ठा

आत्म-प्रतिष्ठा से तात्पर्य अपने व्यक्तित्व की महत्ता को स्वयं समझने और उसके प्रति आदरभाव रखने से है। किसी के प्रति प्रतिष्ठा और आदर का उदय ही उस समय होता है जब उसके बड़प्पन के हम क़ायल हों, उसकी यथार्थ महत्ता का हमें पूरा-पूरा ज्ञान हो। ज्ञान ही प्रतिष्ठा का आधार है। भ्रम, संदेह और अज्ञान की अवस्था में सच्ची प्रतिष्ठा का जन्म नहीं होता। इसलिए दूसरों की महिमा का अन्दाज़ा लगाने के साथ ही, हमें अपने क्रियाकलाप के यथार्थ मूल्य का अन्दाज़ा होगा तो हमारे अन्दर आत्म-प्रतिष्ठा की भावना जाग्रत रहेगी ही।

अब देखना यह है कि आत्मप्रतिष्ठा की भावना कहाँ तक वांछनीय है? किसी चीज़ की अच्छाई बुराई की कसौटी का सर्वमान्य सिद्धान्त यही है कि वह कहाँ तक मनुष्य समाज और उससे भी आगे बढ़कर ब्रह्मांड के हित साधन में समर्थ हो सकती है। इस दृष्टि से आत्मप्रतिष्ठा उसी प्रकार वांछनीय है जिस प्रकार परप्रतिष्ठा अर्थात् दूसरों का आदर। भरत के भ्रातृप्रेम और उनके उत्कट त्याग के प्रति अपना आदरभाव प्रकाशित करके हम यह सूचित करना चाहते हैं कि भ्रातृप्रेम और त्याग का मूल्य

हम समझते हैं। साथ ही हम यह सूचित करना चाहते हैं कि हमारी श्रद्धांजलि भ्रातृप्रेम और त्याग जैसे मूल्यवान आचरण के ऊपर ही समर्पित हो सकती है। प्रकारान्तर से हम उस भ्रातृप्रेम और त्याग के लिए आदरभाव प्रकाशित करके भरत के मन में यह बात प्रतिष्ठित कर देते हैं कि वे भविष्य में इससे उच्चतर आदर्श हमारे सामने रक्खें। हम उन्हें ऐसे आचरण के लिए दृढ़ता और प्रोत्साहन देते हैं। उनके मन के ऊहापोह को दूर कर देते हैं। इसी प्रकार यदि हम अपनी परोपकारवृत्ति की कीमत स्वतः समझते हैं, तो उस परोपकार से तमाम दुनियाँ की उपेक्षा भी हमें विरत नहीं कर सकती। उसमें हमारी संलग्नता कभी शिथिल न होगी। दुनियाँ के यश अथवा निन्दा के लिए ठहर कर हम अपने समय का दुरुपयोग न करेंगे और यदि हमारा अनुमान ठीक है तो अन्त में वह समय भी स्वतः आएगा, जब दुनियाँ भी हमारे कार्य के महत्त्व को स्वीकार करेगी। लेकिन उस समय हमारी परोपकारवृत्ति आत्मप्रतिष्ठा के पुरस्कार से पुरस्कृत हो चुकी होगी। हमें दुनियाँ से जो कुछ प्राप्त होगा वह अतिरिक्त पुरस्कार होगा। इस तरह यह तो ज्ञात हो ही गया कि आत्मप्रतिष्ठा अवांछनीय अथवा हानिकर नहीं है; बल्कि वह हमारी मनोवृत्तियों के विकास में सहायक होती है।

कह सकते हैं कि आत्मप्रतिष्ठा में 'हम चुना दीगरे नेस्त' अर्थात् अहंकार का भाव रहता है। मनुष्य स्वयं जो कुछ करता है उसीको ठीक और सब कुछ समझता है। दुनियाँ के ज्ञान की ओर से आँखें मूँद लेता है। लेकिन बात वस्तुतः ऐसी नहीं है। जब हम अपने उचित-अनुचित प्रत्येक कार्य को ही सब कुछ समझने लगें तब तो वह आत्मप्रतिष्ठा नहीं है, बल्कि आत्म-

प्रवंचना है। हम स्वयं धोखा खा रहे हैं। पीतल को सोना मानने में हमारी बुद्धि का ही विकार है। बात तो यह है कि जब तक कार्य के औचित्य-अनौचित्य का भेद करने की क्षमता हमारे अन्दर पैदा नहीं हो जाती है तब तक आत्मप्रतिष्ठा के भाव के वातावरण में हम साँस ही नहीं ले सकते। यह बात पृथक् है कि मनुष्य विवेकशील प्राणी है। उसमें अच्छे-बुरे का भाव संस्कार रूप से रहता ही है। इसीलिए कभी-कभी कार्य के औचित्य की ओर उसका ध्यान स्वतः चला जाता है, अन्तःकरण में सन्तोष और आनन्द के बीच आत्मप्रतिष्ठा की प्रस्थापना हो ही जाती है। पर जब हम यह कहते हैं कि मनुष्य को आत्मप्रतिष्ठा का ध्यान रखना चाहिए,तब हम उस संस्कार का अपने जीवन में नित्यप्रति व्यवहार देखना चाहते हैं। उसे बार-बार प्रयोग में लाकर अपने स्वभाव का एक अंग बना लेना चहते हैं। तब आत्मप्रतिष्ठा का भाव आकस्मिक नहीं रह जाता। अपने प्रत्येक कार्य का मूल्य समझने की हमारी आदत पड़ जाती है, और आत्मप्रतिष्ठा को हमें साथ-साथ रखना पड़ता है। उसके बिना हम नहीं रह जाते। हमारा व्यक्तित्व उसके सहारे पर खड़ा रहता है।

आत्मप्रतिष्ठा का भाव जिसमें सजग होजाता है, वह पतित होने से बचता रहता है। संसार के अहित की कल्पना उसकी आत्मप्रतिष्ठा में ठेस लगाती है। स्वार्थभावना से आत्मप्रतिष्ठा पर कुठाराघात होता है। दुराचरण आत्मप्रतिष्ठा की स्वच्छ चादर पर कलंक का धब्बा बन जाता है। भविष्य का उच्च-उन्नत जीवन वर्तमान की आत्मप्रतिष्ठा का ही कार्य होता है। आत्मप्रतिष्ठा का अंकुर ही पुष्पित और पल्लवित होकर महापुरुषों के जीवन को आच्छादित किए हुए है। यदि उनमें इसका जन्म न होता, तो बड़े

बड़े महत्त्व के कार्य कर सकने की प्रेरणा और क्षमता उनमें न आती। इसके अतिरिक्त जो आत्मप्रतिष्ठा का मूल्य नहीं जानते, उनके लिए सब धान बाईस पसेरी हैं। अच्छा और बुरा उनके लिए बराबर है। ऐसी अवस्था में वे अपने प्रत्येक कार्य के लिए गर्व करें, इसमें आश्चर्य ही क्या ? पर उनका यह गर्व, घमंड और अहंकार ही होगा और परिणाम होगा पतन।

कहा भी जाता है, कि जो अपनी इज़्ज़त अपने आप नहीं करता, उसकी दुनियाँ में कोई इज़्ज़त नहीं करता। लेकिन अपनी इज़्ज़त करने के लिए हमें इज़्ज़त बढ़ानेवाले काम ही करने पड़ेंगे। इज़्ज़त पर धब्बा लगाने वाले काम करके, अपने को बड़ा समझने वाला भी, दुनियाँ से इज़्ज़त की आशा नहीं रख सकता। और ऐसी हालत में अपनी इज़्ज़त अपने आप करना भी, अपने मुँह मियाँ-मिट्ठू बनने की तरह निन्दनीय है। इसलिए आत्मप्रतिष्ठा वही है जो मनुष्य के प्रतिष्ठित आचरण के लिए स्वयं उसके अन्तःकरण में जन्म ले, और वह सदा अनुकरणीय, आवश्यक और मंगलमयी हो। उससे किसी प्रकार के कुफल की आशंका नहीं है।

— —

उद्योग

दुनियाँ में जितने महान कार्य मनुष्य के द्वारा साधित हुए हैं, मनुष्य की महानता का परिचायक जो कुछ जिस किसी भी रूप में प्राप्त होता है, उस सबकी तह में उद्योग का हाथ है। अजन्ता की गुफाएँ, कार्ली के चैत्य, बौद्ध-विहार, मुग़लों की इमारतें, मिस्र के पिरैमिड, ग्रीस की मूर्तियाँ तथा फ्लोरेंस और रोम की चित्रकला मनुष्य के उद्योग और उसकी लगन के कारण ही अमर हो रहे हैं। यही क्यों, संगीत-साहित्य, कला-कौशल, विज्ञान-दर्शन, नीति और धर्म सबको सफलता का मुकुट पहनाने का श्रेय इसी उद्योग को है। कहा भी है कि, "उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः"। यहाँ 'लक्ष्मी' में सरस्वती का भी समावेश समझना चाहिए। क्योंकि निरुद्यमी मनुष्य को लक्ष्मी और सरस्वती दो में से एक भी वरण नहीं करती। वे तो पुरुषसिंह को चाहती हैं, शृगालपुरुष उनकी कृपा का पात्र नहीं होता, और उस पुरुषसिंह को भी नाम-मात्र का पुरुषसिंह नहीं होना चाहिए, बल्कि उद्योगी और कार्यक्षम होना चाहिए।

पंडितवर जानसन ने बिलकुल ठीक कहा है कि "बातें पृथ्वी की कन्याएँ हैं और कार्य स्वर्ग के पुत्र।" लेकिन उद्योग वह आज़मूदा रसायन है जो नव-नव हाव-भावमयी मनोहारिणी उन पृथ्वी की कन्याओं को दिव्य कान्तिमान स्वर्ग-पुत्रों में बदल देता है। यदि आपको विश्वास न हो तो आप किसी उद्योगी वीर के साथ-साथ चलकर देख लीजिए। बाबर और हुमायूँ, हैनीबल और सीज़र, चन्द्रगुप्त और सिकन्दर, नेल्सन और नैपोलियन तथा प्रताप और शिवाजी ने सहस्रों ऐसी कन्याओं को पुत्रों में परिणत किया है। ये लोग इस उद्योग-रूपी महारसायन का प्रयोग जानते थे। यदि ऐसा न होता तो सभी लोग शिवाजी और राणा प्रताप न बन जाते? केवल बातों को लेकर बैठे रहना और उन्हीं के साथ क्रीड़ा करना, अर्थात् हवा में किले बनाना एक बात है और उन्हीं बातों को उद्योग-पूर्वक कर डालना बिलकुल दूसरी बात है।

एक समय था जब हिन्दुस्तान धन और विद्या के कारण विदेशियों के लिए आश्चर्य का आगार था। मेगस्थनीज़ और फाहियान, अलबेरूनी और इब्नबतूना तथा इत्सिंग और ह्वेन्त्सांग के लेखों को देखिए। भारत का वह महिमा-युग हमें एक स्वप्न जान पड़ता है। आज के दुर्दशाग्रस्त अधःपतित भारत के साथ उस युग का कोई सादृश्य नहीं। आज तो अन्न और वस्त्र के लिए हाहाकार मचा है। छुआछूत का भूत मुँह फैलाकर हमें खाये जा रहा है। अज्ञान और कुरीतियाँ इस बीसवीं शताब्दी के वैज्ञानिक आलोक से डरकर, विश्व के समस्त देश को छोड़-छोड़कर, भारत में शरण ले रही हैं। हिमालय और गंगा की वही पवित्र-भूमि आज फूट और मतभेद की गंदगी से सड़ रही है। कारण स्पष्ट है, हमारा उद्योग और पुरुषार्थ आज हम खो बैठे हैं। हमने अपने आपको जड़ता

और निकम्मेपन से बाँध लिया है। व्यापार और व्यवसाय, विज्ञान और दर्शन, कला और कौशल सब को हम भूल गये हैं। हम केवल अपने भूतकाल पर गर्व करना जानते हैं। इसी को साइनबोर्ड की तरह अपने मस्तक पर बाँधे-बाँधे फिरने में ही अपना कल्याण समझ रहे हैं। हमारा खयाल है कि जब दुनियाँ देखेगी कि हम कृष्ण और अर्जुन की सन्तान हैं, राम और लक्ष्मण का खून हमारे अन्दर बहुता है, बुद्ध और अशोक हमारे पूर्वज थे, तो वह उठकर सम्मान-पूर्वक हमारा आदर करेगी। हम पुष्पक विमान का हवाला देकर भले ही यह साबित कर दें कि अत्यन्त प्राचीनकाल में हमारे पूर्वज आकाशयान बनाना जानते थे, पर जब तक कलकत्ता से कराची तक हमारा अपना वायुयान उड़कर नहीं जाता तब तक हमारा गर्व वृथा है। मान लो दुनियाँ ने कृष्ण और अर्जुन के नाते हमारा थोड़ा-सा सम्मान कर ही दिया तो वह सम्मान क्या प्रशंसनीय है? वह तो ग़रीब भिक्षुक की झोली में डाला हुआ एक दया का टुकड़ा है। अपने पूर्वजों की कीर्ति बेचकर दूसरों की दया पाना कायरों का ही काम है। पुरुषों का भूषण तो उद्योग और पुरुषार्थ ही है।

जातिगत उद्योगशीलता के ह्रास ने ही भारत की यह दशा की है। जिस देश के राजा अपने हाथों से हल चलाकर उद्योग और परिश्रम की पूजा करते थे, वहाँ के नवयुवक हाथ से काम करने में अपमान समझते हैं। उनकी दृष्टि में सभ्यता का अर्थ ही निकम्मापन और दूसरों पर हुकूमत करना है। बाबू-पन ही उनका आराध्य आदर्श है। बेकारी की समस्या का शिकार प्रत्येक परिवार हो रहा है। पर उनके आशा-प्रसून युवक नौकरी के उपवन के सिवाय और कहीं खिलना ही नहीं चाहते। आज राष्ट्र

का स्वास्थ्य दफ्तरों की कुर्सियों और थोथे पोथों की भेंट हो रहा है। बुद्धि सड़ रही है, ज्ञान कोढ़ी होगया है। तभी तो हम परिश्रम का निरादर करते हैं। उद्योगी और परिश्रमी मनुष्य पैसे के दो-दो मारे-मारे फिरते हैं। हाथ से काम करने वालों को निम्न श्रेणी का समझा जाता है। कृषक भूखों मर रहे हैं। उनके खाने को अन्न नहीं, तन ढकने को वस्त्र नहीं, रहने को मकान नहीं। यही दशा कारीगरों की है। हमने दो-चार पुस्तकें क्या पढ़ लीं, बस हम इस काबिल होगये कि कुर्सी और मेज़ के सहारे बैठे-लेटे रहा करें, और उन गरीब श्रमियों पर हुकूमत किया करें। बाबूगिरी के इस भाव ने, पांडित्य की इस अहम्मन्यता ने, उद्योग-धंधों को नष्ट करने में बहुत बड़ा भाग लिया है। अध्यापक पूर्णसिंह ने ठीक लिखा है कि, "जब हमारे यहाँ मज़दूर, चित्रकार तथा लकड़ी और पत्थर पर काम करनेवाले भूखों मरते हैं तब हमारे मन्दिरों की मूर्तियाँ कैसे सुन्दर हो सकती हैं? ऐसे कारीगर यहाँ शूद्र के नाम से पुकारे जाते हैं। याद रखिये, बिना शूद्र-पूजा के मूर्तिपूजा किंवा कृष्ण और शालिग्राम की पूजा होना असंभव है।" अतः भारत के नवयुवकों को अपने दिल से यह भ्रान्त धारणा निकाल देनी चाहिए कि हाथों से काम न करने में ही गौरव है। उन्हें उद्योग और अध्यवसाय, मेहनत और मज़दूरी में सेवा के पवित्र आदर्श के दर्शन करने चाहिए।

कहा जाता है, कि हमने अंग्रेज़ों की नक़ल में इस अकर्मण्यता को अपनाया है। यह और भी भ्रान्त है। स्वर्गीय सम्राट् जार्ज-पंचम और वर्त्तमान सम्राट् जार्ज षष्ठ तक तो परिश्रम और उद्योग की पूजा करते रहे हैं। उन्होंने अपने हाथों से जहाज़ों में कोयले झोंककर ब्रिटेन की नाविक-शक्ति को दृढ़ किया है। जो लोग

यह समझते हैं कि अंग्रेज़ ईसाई हैं, वे किसी हद तक ग़लत भी हो सकते हैं; पर जो कहते हैं कि अंग्रेज़ों का धर्म उद्योग और अध्यवसाय है, वे परिश्रम और मज़दूरी की पूजा करते हैं; वे लोग वास्तव में ठीक कहते हैं। अंग्रेज़ों के उपासना-मन्दिर ऊँचे-ऊँचे गिरजे नहीं, बल्कि लिवरपूल और मानचेस्टर के बड़े-बड़े कारखाने हैं और वे व्यापारी जहाज़ हैं जो अटलांटिक महासागर का वक्षःस्थल विदीर्ण करते हुए तीर की तरह आते जाते रहते हैं।

यदि भारतवासी फिर से ढाका की मलमल का युग देखना चाहते हैं, यदि वे फिर से मथुरा और सारनाथ की मूर्त्तियों के निर्माण की कुशलता प्राप्त करना चाहते हैं और यदि वे चाहते हैं कि फिर से यहाँ दूध की गंगा बहे, धन-धान्य और रत्नों की भारत खान बने, तो उन्हें एकाग्रचित्त और निर्विकार मन से उद्योग और परिश्रम की पूजा करनी चाहिए। उन्हें मन में रख लेना चाहिए कि काम कोई तुच्छ नहीं है, उद्योग और परिश्रम सदैव पवित्र और पूजनीय हैं।

फूट

फूट के विषय में किसी का कथन है कि 'खेत में उपजै सब कोई खाय। घर में होय तो घर बहि जाय।' यहाँ हमारा आशय खेत में पैदा होने वाली फूट से नहीं है जिसे सब कोई खाते हैं, बल्कि उस फूट से है जिसका संकेत बाद में किया गया है, जिसने अब तक अनेक घरों को तहस-नहस किया है, जिसका दूसरा नाम है द्वेष, जिसके चरण पड़ने से सत्यानाश का बीज बोया जाता है, जिसका पदार्पण महानाश का पदार्पण होता है।

छोटे-बड़े सभी को अनुभव होगा कि फूट से भयंकर दुनियाँ में कोई महामारी नहीं है। इसकी प्रचंडता से सब कंपायमान रहते हैं। इसके रौद्ररूप का सबको ज्ञान है। जो इसकी प्रचंडता से अबोध है, उसे एक ही धक्के में यह सचेत कर देती है। फूट को अगर हम भयंकर निशाचरी कहें, तो शायद सभी हमसे सहमत होंगे। यह महानाश की दूती न जाने कब जन्मी थी। क्योंकि हम अत्यन्त प्राचीन काल से इसका उल्लेख सुनते आ रहे हैं। दुनियाँ जन्मी, जवान हुई और जराग्रस्त होकर मर गई। सृष्टि के अन्तकाल में अनेक उत्थान और पतन हुए। कहीं वैभव और विलास के महल उठे, कहीं सूने खँडहरों का विस्तार फैला, पर यह क्रूरा और कर्कशा उसी भाँति अपने उद्दाम यौवन में इठलाती और

दुनियाँ को पीसती चली जा रही है। इस अनन्त-यौवना के शरीर पर समय की एक भी शिकन नहीं पड़ी। इसकी वही भ्रूभंगिमा है, वही चंचलता है और वही परपीड़न की अस्वाभाविक क्रीड़ा है।

यह भी तो पता नहीं कि विश्व-ब्रह्मांड के किस कोने में इस प्रलयंकरी देवी ने जन्म लिया था। मर्त्य, स्वर्ग और पाताल सभी तो इसके क्रीड़ा-केन्द्र हैं। देवताओं में इसकी पहुँच है, देवियों में इसकी पहुँच है। दैत्यों और असुरों की तो यह पोष्यपुत्री है। मर्त्यलोक की यह मुकुटधारिणी साम्राज्ञी है। सब इसके भय से काँपते हैं, और इसके नाशक-प्रभाव से परिचित हैं, तो भी इसके कृपाकटाक्ष के लिए लालायित रहते हैं। जातियों में, राष्ट्रों में, घरों में इसकी पूजा होती है। जहाँ देखो वहाँ फूट ही फूट नज़र आती है। भाई-भाई में फूट है, बाप बेटे में फूट है, कुटुंबियों में फूट है, स्नेह-सम्बन्धियों में फूट है। पारस्परिक फूट के असंख्य परिणाम प्रत्यक्ष होते हुए भी लोगों को फूट के बिना भोजन में स्वाद नहीं आता। हम जानते हैं कि ये देवताओं के यहाँ पहुँचती है तो दैत्यों को विजयश्री देती है, और दैत्यों के ऊपर प्रसन्न होती है तो मनुष्यों के सामने उन्हें झुकाती है। और मनुष्यों को कृपापात्र बनाती है तो उन्हें प्रलय के मुख में ढकेल देती है। लेकिन फिर भी इसे प्रश्रय दिये बिना हम से नहीं रहा जाता। न जाने किस मोहनी-मन्त्र का यह प्रभाव है? न जाने कौन-सा वशीकरण इसे सिद्ध है? अवश्य ही फूट मायाविनी है, जादूगरनी है। तभी तो वह ज्ञान में कुंठित कर देती है। प्रेम को पछाड़ देती है। सद्भाव का सत्यानाश कर डालती है। सहानुभूति का शिरच्छेदन कर देती है। भ्रातृत्व को भुला देती है तथा जातीयता और देश-प्रेम का गला घोंट देती है। यदि ऐसा न होता तो मीरज़ाफर और अमी-

चन्द भारत का भाग्य विदेशी अंगरेज़ों के हाथ में क्यों सौंप देते ? यदि ऐसा न होता तो विदेशी मुहम्मदग़ोरी का मुक़ाबिला करने के लिए पृथ्वीराज का सहयोग देने में जयचन्द को आनाकानी क्यों होती ? यदि ऐसा न होता तो पोरस की पराजय से अपने नेत्र ठंढे करने के लिए तक्षशिलानरेश, आंभी, आक्रमणकारी सिकंदर का साथ क्यों देता ? इसके अतिरिक्त राजपूतों के पारस्परिक युद्धों का इतिहास वास्तव में फूट की क्रीड़ा का ही इतिहास है। यदि राजपूत तथा मराठे अपनी नीति में पारस्परिक विद्वेषभाव को स्थान न देते, थोड़ी उदारता से काम लेते तो क्या आज दिल्ली के किले पर यूनियन जैक लहराता होता ?

यहाँ तक विश्वविजयिनी दुर्जेय शक्ति फूट की महिमा तथा उस के एकछत्र साम्राज्य का बखान हुआ। इससे यही प्रतीत होता है कि फूट के ऊपर किसी का वश नहीं है। हम सब लोग विद्वेष-भावना के हाथों के खिलौने मात्र हैं। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है, इसने चाहे किसी समय विश्वामित्र और वसिष्ठ को भले ही अपने वश में कर लिया हो, पर दृढ़व्रती कृती पुरुषों के सामने इसकी एक नहीं चली है। उन्होंने अनेक बार इसे अपने पथ से अलग हटा कर अपने लिए मार्ग बना लिया है। भगवान् बुद्ध, मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्र, श्रीकृष्ण, हज़रत मुहम्मद, हज़रत मूसा, महात्मा ईसा तथा गुरुगोविन्दसिंह आदि इसी कोटि के दृढ़व्रती महा-पुरुष हैं। जब अयोध्या के राजप्रासाद में महारानी कैकयी ने फूट के बीज बोये थे, जब विध्वंसकारी झंझा के झकोरे चारों ओर से रघुकुल की मर्यादा को घेर रहे थे, तब रामचन्द्र ने अपने अपूर्व शील और अटल धैर्य की प्राचीरें खड़ी करके उसकी रक्षा की थी। राम के संयम के ऊपर फूट की भेदनीति सफल नहीं हो सकी।

उसके सारे प्रयास कुंठित हो गए। भरत ने तो माता द्वारा परिपोषित फूट को उन्मूलित करके संसार के सामने भ्रातृप्रेम और मनुष्यता का आदर्श ही नहीं रख दिया वरन् इसे प्रत्यक्ष करके दिखा दिया कि इसकी शक्ति कितनी नगण्य और क्षुद्र है। फूट की पिशाचिनी वहीं आने का साहस करती है जहाँ त्याग और प्रेम के महामंत्र का जाप नहीं होता।

इसी प्रकार हज़रत मुहम्मद ने अरब से इसका जिलावतन कर दिया। वहाँ तो घर-घर में इसने अड्डा जमा लिया था। वहाँ के निवासी पड़ौसी धर्म को भूल गये थे। जातीयता का नाश हो गया था। खाने में विद्वेष था, पीने में विद्वेष था। राग-रंग में विद्वेष था। लोग विद्वेष के वातावरण में ही साँस लेकर जीते थे, या मरे हुओं से भी बदतर हालत में ज़िन्दगी के दिन गुज़ार रहे थे। संगठन और शक्ति, सब कुछ वे खो बैठे थे। अपने-अपने खेमे और अपने-अपने गधे की चिन्ता ही उनका सबसे बड़ा स्वार्थ था। पड़ोसी के खून में रँग कर पगड़ी बाँधना ही उनके जीवन का उच्चतम उद्देश्य था। हज़रत साहब ने उनकी आँखों से अज्ञान का परदा दूर कर दिया। फूट को वे लोग अपनी एकमात्र आराध्यदेवी मान रहे थे, हज़रत साहब की शिक्षाओं से उन्होंने उसका असली रूप भी पहचाना। उससे घृणा की। अरब की चहारदीवारी के बाहर उसे खेद दिया। इस्लाम की प्रतिष्ठा हुई। जो देश बर्बरता का घर था, वह सभ्यता और संस्कृति का दीवानखाना बना। उसमें संगठन और शक्ति का तेज उद्दीप्त हुआ। उसमें ज्ञान-विज्ञान का आलोक फैला। उसकी तलवार ने ईरान और यूनान, शाम और रोम तक अपना आतंक और साम्राज्य फैलाया।

कहने का प्रयोजन इतना ही है कि उनके लिए, जो इसके प्रभाव

में आ जाते हैं, यह फूट बड़ी बुरी बला है, चाहे वे देवता हों या दानव, राक्षस हों या मनुष्य, ऋषि हों या महात्मा, चक्रवर्ती सम्राट हों या विश्वजयी योद्धा। रावण और बालि का पतन इसी के प्रभाव का फल है। किन्तु जो इसके प्रभाव में नहीं आते, इसकी शक्ति को पादाक्रान्त कर डालते हैं, वे ही दुनिया का कुछ कल्याण कर पाते हैं, वे ही महापुरुषों की श्रेणी में स्थान पाते हैं। जिस जाति, जिस राष्ट्र या जिस व्यक्ति को अभ्युदय के शिखर पर चढ़ना हो, या कम से कम दुनियाँ में अपना अस्तित्व रखना हो, उसे उचित है कि वह फूट की विष-वेलि को अपने यहाँ पनपने न दे, क्योंकि यह आश्रय तो हरे-भरे उद्यानों में ढूँढती है पर पल्लवित और पुष्पित तभी होती है जब उस उद्यान को खँडहर में परिणत कर देती है। ऐसी लता, अगर अमृतफल भी फलने लगे, तो क्या कोई उसकी कामना करेगा ? कभी नहीं।

आत्मश्लाघा

अपनी प्रशंसा अपने आप करने को आत्मश्लाघा या आत्म-प्रशंसा कहते हैं। इसका प्रकाशन प्रायः दो मनोभावों के आधार पर होता है, एक आत्मविश्वास पर और दूसरे मिथ्याभिमान पर। आत्म-विश्वास स्वयं एक बड़ा असाधारण गुण है और असाधारण गुण रखनेवाले पुरुष दुनियाँ में बहुत थोड़े होते हैं। इसलिए आत्म-विश्वास के आधार पर की गई आत्मश्लावा बहुत कम देखने में आती है। प्रायः हम जो आत्मश्लाघा सुनते हैं उनका आधार मिथ्याभिमान ही होता है। क्योंकि जिनमें आत्मविश्वास होता है वे अपने आचरण का विज्ञापन करने का भार प्रायः अपने ऊपर नहीं लेते, यह काम तो मिथ्याभिमानी ही बड़ी तत्परता से करते पाये जाते हैं।

आत्मविश्वास तथा आत्मयोग्यता के ज्ञान के आधार पर की गई आत्मश्लाघा का उदाहरण कविकुल-शिरोमणि भवभूति की वह उक्ति है जो उन्होंने अपने उत्तररामचरित में दी है। उन्होंने अपने कवित्व के विषय में लिखा है कि, 'वचन के बस जासु सरस्वती करति काज मनौ निज भामिनी।'' इनकी यह आत्मप्रशंसा भी सहृदयों के आनन्द की वस्तु बन गई है। इसका कारण यही है कि वह आत्मविश्वास के आधार पर खरी उतरती है। यदि आज उन की सरस्वती की धूम दुनियाँ में न होती तो उनका कथन दूषणों

में परिगणित किया जाता। इसी प्रकार समरभूमि में की गई वीर योद्धाओं की आत्मदर्पोक्तियाँ भी आनन्द का ही कारण बनती हैं। महापुरुषों के आत्मचरित्र भी इसी कोटि की आत्मश्लाघा में आ सकते हैं। या उन्हें आत्मगौरव अथवा आत्मप्रतिष्ठा के सूचक कहा जाय तो अधिक युक्तियुक्त होगा।

लौकिक व्यवहार में जिसे आत्मश्लाघा कहा जाता है, वह प्रायः मिथ्याभिमान का ही आधार लिए होती है। इसलिए वह गर्हित और घृणित गिनी जाती है। ऐसी आत्मश्लाघा पद-पद पर उपहास की पात्र बनती और नीची नज़रों से देखी जाती है। यह सब लोग जानते हैं, तो भी अपने मुँह अपनी प्रशंसा करनेवालों की संख्या थोड़ी नहीं है। कोई मूर्खतावश सीधे शब्दों में प्रशंसा करके अपनी श्रेष्ठता दर्शाता है, तो कोई चतुराई-पूर्वक, अपने भाव को छिपाने का प्रयत्न करते हुए, अपनी तारीफ के पुल बाँधता है। पर मूर्ख और चतुर दोनों की आत्मप्रशंसा दुनियाँ की दृष्टि से बच नहीं पाती, उसका उद्‌घाटन किसी न किसी तरह हो ही जाता है। कहा भी है कि खून अपने आप बोलता है या दुर्गुण परदार पत्ती से भी शीघ्र उड़कर दुनियाँ की दृष्टि में आ जाते हैं।

मनुष्य का आचरण उसके यश का जितना अधिक विज्ञापन कर सकता है, उतना उसकी जिह्वा नहीं कर सकती, यह स्वतः सिद्ध है। वह प्रमाणों की अपेक्षा नहीं करता। अपनी प्रशंसा अपने आप करने से न तो कोई अपने दोषों पर परदा डाल सका है और न अपनी विद्वत्ता और शालीनता प्रकट कर सका है। अपने विषय में मौन रहना और कर्त्तव्य करते जाना ही एक ऐसा रास्ता है जहाँ तिरस्कार और परिहास के गंदे छींटे नहीं उछलते, बल्कि योग्य प्रशंसा और यश का सुधावर्षण होता है।

लार्ड चेस्टरफील्ड ने एक स्थान पर लिखा है कि "अधिकांश मनुष्य अपने विचार से युक्तिपूर्वक अपनी प्रशंसा आरंभ करते हैं। वे बहुत से दोषों को अपने ऊपर आरोपित करके उनका निवारण करने के लिए इस प्रकार अपने सद्‌गुणों की सूची दे डालते हैं कि हम स्वीकार करते हैं कि हमारा अपने विषय में कुछ कहना बहुत अनुचित है और इस बात से हमें अत्यन्त घृणा होती है। किन्तु यदि अन्याय से हमारे ऊपर दोषारोपण न किया जाता तो हम कभी अपने गुणों के विषय में कुछ न कहते।'—ऐसे मनुष्य यह नहीं समझते कि मिथ्या अभिमान के ऊपर पड़ा हुआ यह विनय का पतला परदा इतना पारदर्शक है कि जिन मनुष्यों में थोड़ी भी विचारशक्ति है यह उनसे छिप नहीं सकता।" मिथ्याभिमानी पुरुष ऐसी सहस्रों मूर्खता की बातें किया करते हैं। फल यह होता है कि वे अपने अभिप्राय को भी पूर्ण नहीं कर पाते। उलटे उपहास और घृणा के पात्र बनते हैं। इसका एक यही सर्वोत्तम उपाय है कि अपने विषय में मौन रहा जाय। परन्तु यदि कोई प्रसंग ऐसा ही आकर उपस्थित हो जाय जहाँ अपने विषय में कुछ कहना ही पड़े, वहाँ उतना ही कहना चाहिए जिसमें आत्मप्रशंसा की झलक न हो। परिचय में जहाँ आत्मप्रशंसा का आभास मिला कि उपस्थित लोगों के होठों और भौहों पर तिरस्कार की हँसी और घृणा के बल पड़ने लगेंगे। इसलिए अपना परिचय देते समय अपने आपको सुरक्षित रखने का एक ही उपाय है कि हम अपनी वाणी में आत्मश्लाघा की छाप न पड़ने दें।

भृगुकुल-शिरोमणि परशुराम ने क्या नहीं किया था? अपनी भुजाओं के बल से, अपने हस्तलाघव से, अनेक बार योद्धा जाति के शिरोरत्न क्षत्रियों को पराजित किया था। अपनी धाक से धरा

को कंपायमान कर दिया था। वीरों के हृदय हिला दिये थे। योद्धाओं को नतमस्तक कर दिया था। ऐसे वीररत्न को अपने अपने पराक्रम और शौर्य के विषय में बहुत कुछ कहने का अधिकार था। उनका कथन कोरे मिथ्याभिमान पर आश्रित न था, तो भी सीता के स्वयंवर में वे उपहास के पात्र बने। लक्ष्मण ने आखिर उनके ऊपर व्यंग्य करते हुए कह ही डाला कि, "अपने मुख तुम आपनि करनी। वार अनेक भाँति बहु वरनी।" इसका कारण यही था कि आवेश के कारण वे असावधान हो गये थे। उन्हें इस बात का भान न रहा था, कि दुनियाँ उनके यश से स्वतः परिचित है, और इस बात की कतई आवश्यकता नहीं है कि स्वयं अपने श्रीमुख से अपने पराक्रम का बखान करें। यद्यपि उन्होंने कुछ बढ़ाकर नहीं कहा था, अपना सच्चा और स्वाभाविक परिचय-मात्र दिया था तो भी वह सभा के सम्मुख आत्मप्रशंसा के रूप में ही प्रकट हुआ। इस वास्ते बजाय उनकी धाक जमने के अथवा उनके प्रति श्रद्धा उमड़ने के, उनका उपहास ही अधिक हुआ। जब परशुराम जैसे सर्वथा अधिकारी व्यक्ति के मुख से उसकी प्रशंसा लोग सहन नहीं कर सकते तो हम-तुम साधारण लोगों की तो बात ही क्या है ?

बहुत से अधिकार-संपन्न और क्षमताशाली पुरुष अपने अधीनस्थ और आश्रित लोगों के सामने अपने विषय में डून की हाँकते हैं, और उनसे समर्थन एवं शाबाशी भी पा जाते हैं, पर वह शाबाशी और समर्थन यथार्थ नहीं होता। वह तो अपनी क्षमता के बल पर खरीदी हुई चाटुकारिता से किसी कदर बढ़कर नहीं है। क्योंकि इस प्रकार समर्थन करनेवाले अपने हृदय की सचाई को व्यक्त नहीं करते और न समर्थन करने के बाद उन में अपने

आश्रयदाता के प्रति श्रद्धा ही विवर्धित होती है। श्रद्धा और सम्मान तो दूर रहा, वे उलटे उससे मन ही मन घृणा करते हैं। इस पर भी आत्मप्रशंसा के लोभियों की आँखें नहीं खुलती। अधिकार का मद उन्हें अंधा बनाए रहता है, और वे धाराप्रवाह वक्ता की भाँति अपने गुणानुवाद गाते रहते हैं। ऐसे लोगों का हमें अनुकरण नहीं करना चाहिए बल्कि उनके ऊपर तरस खाना चाहिए। ईश्वर से प्रार्थना करनी चाहिए कि वह उन्हें सद्बुद्धि प्रदान करें। ताकि वे यथार्थ स्थिति को समझ सकें।

क्रोध

काम, क्रोध, मोह, लोभादि मनुष्य के शत्रु कहे गये हैं। सारे पापों और निन्दनीय कार्यों का विधाता इन्हीं को माना गया है। किसी नीतिकार या धर्मध्वजी की व्यवस्था लीजिये तो वह यही सलाह देगा कि इनसे उसी प्रकार दूर रहो जिस प्रकार रोग के कीटाणुओं से रहते हो। उसकी दृष्टि में नरक की सृष्टि इन्हीं ने कराई है। ये ही पाप के जनक और पुण्य के भक्षक हैं। पर मुश्किल तो यही है कि सृष्टि के आदि से बराबर नीतिकार और धर्मात्मा यही उपदेश देते आये हैं, पर दुनियाँ के विचारों में वे परिवर्तन नहीं कर सके हैं। काम, क्रोध आदि को वे अब तक निर्वासित नहीं करा पाये हैं और न ऐसी कोई संभावना सुदूर भविष्य में दिखाई देती है। यही प्रतीत होता है कि जैसे जगत का अस्तित्व है वैसे ही इनका भी है। या यों कहें कि विधाता को इन्हें रखना भी उसी प्रकार इष्ट है जिस प्रकार शेष जगत को।

यहाँ हमें काम, क्रोध आदि में से केवल क्रोध पर ही कुछ कहना है। शेष से कोई प्रयोजन नहीं है। इसलिए आगे हम केवल क्रोध के विषय में ही चर्चा करेंगे। क्रोध बड़ा तीव्र मनोभाव है। इसकी

अभिव्यक्ति मनुष्यों के अतिरिक्त पशु-पक्षियों में भी देखी जाती है। प्रत्येक प्राणी की क्रोध के समय एक विचित्र प्रकार की मुद्रा हो जाती है। उसकी भावभंगी से ही क्रोध का परिज्ञान किया जा सकता है। बन्दर क्रोध में दाँत पीसने लगता है, भैंस की आँखें लाल हो जाती हैं, बिल्ली के रोएँ खड़े हो जाते हैं, सर्प फन उठाकर फुफकारने लगता है, इत्यादि। यही क्यों वृक्षादिकों में भी इसके लक्षणों का पता वैज्ञानिकों ने लगाया है।

अब हमें देखना यह है कि यह मनोभाव किस समय अभिव्यक्त होता है। पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है, कि "क्रोध दुःख के साक्षात्कार होने अथवा उसकी संभावना से उत्पन्न होता है। साक्षात्कार के समय दुःख और उसके कारण के संबंध का परिज्ञान आवश्यक है। जैसे तीन चार महीने के बच्चे को कोई हाथ उठाकर मार दे तो वह यह नहीं जानता कि उसकी पीड़ा और मारने वाले के हाथ उठाने से क्या संबंध है, अतः वह केवल रोकर अपना दुःखमात्र प्रकट कर देता है। दुःख के कारण के साक्षात्कार के बिना क्रोध का उदय नहीं हो सकता। शिशु अपनी माता की आकृति से अभ्यस्त हो ज्योंही यह जान जाता है कि दूध इसीसे मिलता है तो भूखा होने पर उसकी आहट पा रोने में कुछ क्रोध के लक्षण दिखाने लगता है।" कभी कभी प्राप्त सुख की हानि या हानि की संभावना के साथ भी क्रोध का स्फुरण देखा जाता है और कभी-कभी तो अकारण ही इसकी अभिव्यक्ति देखी गई है पर ऐसा अत्यन्त विकृतावस्था में ही होता है। साधारणतया क्रोधकर्ता यह ज्ञान रखता है कि दुखदाता को दुख पहुँचाना ही इष्ट था।

अब हमें विचार यह करना है कि क्रोध की आवश्यकता है भी

कि नहीं ? अथवा नीतिकारों का 'क्रोध पाप कर मूल' यह वाक्य ही सत्य है ? साधारणतया हम क्रोध को दो रूपों में देखते हैं, एक तो व्यक्तिगत स्वार्थों की रक्षा में लगे हुए, दूसरे सामाजिक स्वार्थों की रक्षा में प्रवृत्त। कुत्ते का क्रोध पहली प्रकार का कहा जा सकता है। उसके सामने व्यक्तिगत स्वार्थ ही अधिक रहते हैं। दूसरी प्रकार का क्रोध मधुमक्खी का कहा जा सकता है, जो अपने वर्ग या समाज की रक्षा की भावना को लिए होता है। वास्तव में द्वितीय प्रकार का क्रोध अत्यन्त आवश्यक है। वह क्रोध-कर्ता को दर्शकों की दृष्टि में गिराता नहीं वरन् ऊँचा उठा देता है, और यह सामाजिक दृष्टिकोण जितना ही व्यापक और विस्तृत होता है क्रोध की महत्ता उतनी ही बढ़ जाती है। यदि मनुष्य केवल अपनी जाति या अपने देश के प्रति किये गये अत्याचार का ही उत्तर क्रोध से देता है तो उसका क्रोध उस आदमी के क्रोध से हीन श्रेणी का है जो मनुष्य-मात्र पर किये गये अन्याय से, बिना देश-जाति का विचार किये, क्रोध से तिलमिला उठता है। इसी प्रकार प्राणि-मात्र के अत्याचार को सहन न कर सकने वाला क्रोध सब से उत्तम श्रेणी का है। कहने का तात्पर्य यही है कि सामाजिक जीवन की रक्षा के लिए क्रोध के प्रयोजन को कोई बुरा नहीं बता सकता। भला आप ही बताइये कि कोई अत्याचारी बराबर अत्याचार करता जा रहा हो, उसका अत्याचार वयस्क और बालक में भेद न करता हो, उसका अत्याचार निरीह अबलाओं को भी उसी प्रकार सताता हो जिस प्रकार हृष्ट-पुष्ट पुरुषों को, तो क्या आप उसे दमन करने का यत्न नहीं करेंगे ? क्या उसके अनाचारों को सिर झुकाकर सहते जायँगे ? आप अवश्य ही उसे दमन करेंगे, और उसे दमन करने की भावना बिना क्रोध की सहायता के कुछ नहीं कर सकती। क्रोध

का सहयोग ही उसे अग्रसर करेगा और क्रियात्मकरूप देगा। कुछ वर्ष पहले कलकत्ता में खड्गसिंह नामक युवक ने अबलाओं पर अत्याचार करने वाले एक नारकीय मनुष्य का वध करके एक देवी का उद्धार किया था। उसके लिए सभी लोगों ने खड्गसिंह के साहस की प्रशंसा की, पर यदि देखा जाय तो क्रोध का ही उसमें प्रधान हाथ था। क्रोध की प्रेरणा से प्रेरित होकर भीम ने द्रौपदी (सैरन्ध्री) का उद्धार किया था। यद्यपि उनके अन्दर और भी कतिपय मनोभाव काम कर रहे थे पर क्रोध प्रमुख कर्त्ता-धर्त्ता था, इसमें संदेह नहीं। दुनियाँ में पापियों का दमन सदा क्रोध के ही पवित्र एवं दृढ़ हाथों से हुआ है। तो भी क्रोध की निन्दा का विज्ञापन बड़े-बड़े अक्षरों में सदा से किया जा रहा है।

और यदि यही मान लिया जाय कि अक्रोध और शान्ति ही सदा अनुकरणीय हैं, तो भी ठीक नहीं। क्योंकि प्रायः महास्वार्थी और नीच लोग भी उसका अनुकरण करते देखे जाते हैं। अपनी स्वार्थपूर्ति में वे शान्तिमूर्ति बन जाते हैं और क्रोध को पास नहीं फटकने देते। ऐसे ही लोगों के लिए गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है कि, "बोलहिं बोल मधुर जिमि मोरा, खाहिं महा अहि-हृदय कठोरा।" तो क्या ऐसे लोगों का अक्रोध "धर्म का मूल" कहलायेगा ? नहीं; न तो क्रोध हर दशा में "पाप का मूल" है और न अक्रोध ही हर हालत में "धर्म का मूल" है। नीतिकारों का आशय केवल इतना ही है कि मनुष्य को क्रोध के वश में नहीं हो जाना चाहिए। अपने स्वभाव को इतना क्रोधी नहीं बना लेना चाहिए कि बिना समझे-बूझे, अकारण ही उसके बहाव में बहने लगे। समय पर क्रोध और समय पर शान्ति का आचरण ही उचित है।

क्रोध अत्यन्त व्यापक और तीव्रतर मनोभाव है इसका आविर्भाव होते ही मनुष्य अपने आपको इसके हाथों में समर्पित कर देता है। दूसरे सब मनोभाव इसके आगे दब जाते हैं। अपने आप को क्रोध के हाथों में देकर क्रोधकर्ता उसकी स्फूर्ति की दिशा की ओर दत्तचित्त नहीं हो पाता। क्रोध असंयत वेग के समय यह नहीं देखता कि शत्रु की शक्ति कितनी है। वह तो अपने काम से काम रखता है, जो क्रोधकर्ता के लिए कभी हानिकर सिद्ध हो सकता है। न क्रोध यही ध्यान रखता है कि उसका प्रयत्न क्रोधकर्ता के दुखनिवारण की ओर है या दुखदाता की कटुता को संवर्द्धन करने की ओर। उसकी अधीरता, क्षिप्रता और अन्धाधुन्धी को देखकर ही नीतिकारों ने उससे बचने का उपदेश दिया है। इसी कारण डाक्टरों ने उसकी गणना तीव्र रोगों में की है। पर विवेक के साथ आवश्यक परिमाण में और उपयुक्त अवस्था में क्रोध मनोवांछित फल भी देता है इसमें रत्ती भर संदेह नहीं। तमसा के तट पर निषाद की क्रूरता को देखकर आदिकवि वाल्मीकि दया, क्षोभ, क्रोध और करुणा के मिश्रित भाव से मर्माहत हो गये थे, उस समय क्रोध ने ही आगे बढ़कर अनुष्टुप छन्द के इन शब्दों में अपने आपको व्यक्त किया था—

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥"

शाप के ये शब्द क्रोध की लाल जिह्वा से निकले हैं। दया तो आहत क्रौंच के लिए शीतल उपचार करने में ही लग गई, क्षोभ अपने आप में ही आन्दोलित होने लगा, करुणा एक ओर मुँह छिपाकर रोने लगी। केवल क्रोध ने ही आगे बढ़कर अत्याचारी को ललकारा—दुष्ट, तू क्या समझता है कि इस प्रकार इन निरीह

पत्नियों को मार कर तू दुनियाँ में प्रतिष्ठा लाभ करेगा ? नहीं, कभी नहीं। अनन्तकाल तक तू अपने इस दुष्कृत्य के लिए, एक जोड़े को इस प्रकार विमुक्त करने के लिए, दुनियाँ में घृणा का पात्र रहेगा।

यहाँ महर्षि की मर्यादा, तमसा के पावन उपकूल और प्रेम के मधुर-कोमल वातावरण के कारण क्रोध शाप के शब्दों में ही समाप्त हो गया। नहीं तो वह और उग्रतर बनकर अत्याचारी को तत्काल दंड देने से न हिचकता।

ऐसे क्रोध के आगे भला कौन आदर से मस्तक झुकाने को तैयार न हो जायगा ? तो भी क्रोध को लेकर दुर्वासा का अवतार बन जाना अनावश्यक है। ज़रा भी स्थायित्व पाने से क्रोध वैर का रूप धारण कर लेता है जो सर्वथा अवांछनीय और अनिष्टकर है।

सत्य

सत्य क्या है ? इसका उत्तर जितना ही सीधा-सादा और सरल है उतना ही जटिल और सूक्ष्म भी। यों तो प्राय: हर एक आदमी अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार इसका कुछ न कुछ अर्थ समझता ही है। अपनी-अपनी पहुँच के अनुसार जिसने सत्य का जितना रूप देखा, उसके लिए सत्य उसी रूप में है। इस प्रकार की गई सत्य की व्याख्या परिमित सत्य कहला सकती है। किन्तु इसके अतिरिक्त एक सर्वसम्मत और व्यापक सत्य भी है जो सदा एक-रस रहता है, कभी परिवर्तित नहीं होता। सत्य शब्द की उत्पत्ति भी हमें यही बताती है। सत्य की उत्पत्ति सत् से हुई है। सत् का अर्थ है होना; अर्थात् जो देशकाल के साथ परिवर्तित न होता हो वही सत्य का यथार्थ रूप है।

इसके लिए एक उदाहरण दिया जाता है। कुछ अंधे यह देखने के लिए चले कि हाथी कैसा होता है ? एक हाथी की सूंड पर ही हाथ फेर कर रह गया। दूसरा पूँछ को ही हाथी समझ बैठा। तीसरा हाथी की टाँग देखकर हाथी का रूप वर्णन करने लगा। चौथे ने उसका कान ही देख पाया और कहा, हाथी पंखे की तरह होता है। पाँचवें ने दाँतों से ही उसका अनुमान कर लिया। इसके बाद वे परस्पर

विवाद करने लगे। किसी ने पूरा हाथी नहीं देखा था, इसलिए उनका विवाद तब तक शान्त न हो सका जब तक एक ऐसा आँखों वाला आदमी नहीं आया जिसने पूरा हाथी देखा था जब वह आया तो उसने कहा—झगड़ते क्यों हो? तुम में से हर एक ने हाथी का जितना अंग देखा है उस दृष्टि से हर एक का कहना ठीक है, लेकिन पूरा हाथी किसी ने नहीं देखा, इसलिए मैं बताता हूँ कि पूरा हाथी किस तरह का होता है। उसने हाथी का पूरा रूप वर्णन कर दिया। अन्धों को परिमित सत्य का ज्ञान हुआ था; पर संपूर्ण और व्यापक सत्य का ज्ञान उन्हें तभी हो सका जब उन्हें आँखों से देखने वाले उनके साथी ने बताया।

हमारे यहाँ धर्मशास्त्रों में इस व्यापक शुद्ध सत्य को अखंड, सर्वव्यापक और अवर्णनीय कहा है, अर्थात् सत्य ही ईश्वर है, क्यों कि परमेश्वर ही सत्य है। इसलिए यह माना गया है कि जो सत्य को जानता है और सत्य का आचरण करता है वह ईश्वर को पहचानता है। इसीलिए धर्म के दस लक्षणों में सत्य को मनु महाराज ने प्रमुख स्थान दिया है। अन्य कवियों ने भी कहा है—

साँच बरोबर तप नहीं, झूठ बरोबर पाप।
जाके हिरदय साँच है, ताके हिरदय आप॥

किन्तु साधारणतया सत्य से हमारा तात्पर्य केवल इतना ही होता है कि जिस बात को जैसा देखा सुना हो, आवश्यकता होने पर ठीक उसी रूप में संसार के सामने उसे व्यक्त कर दिया जाय। वैसा करने में हानि-लाभ का विचार न किया जाय।

इसका थोड़ा बहुत ज्ञान प्रायः सभी को है कि सत्याचरण जीवन को सुखमय बनाने के लिए कितना उपयोगी है। यह अवश्य स्वीकार करना पड़ता है कि व्यापक परम सत्य तो सब के आचरण

करने की वस्तु नहीं है। उसके लिए बहुत आत्मसंयम और शुद्ध विचारों की आवश्यकता होती है, पर यदि परिमित सत्य को भी कठिन समझ कर छोड़ दिया जाय, तो दुनियाँ रहने लायक न रह जाय हमें जो कुछ कष्ट, असुविधाएँ, अत्याचार और दुराचरण संसार में दिखाई पड़ते हैं, उनका आधार इसी सत्याचरण का अभाव है। पुलिस, अदालत और बाल की खाल खींचने वाले कानून का उद्देश्य क्या है ? क्यों इनकी रचना हुई है ? इसलिए कि दुनियाँ में सत्य की प्रतिष्ठा हो जाय। एक दूसरे को ज़रा-ज़रा सी बात पर झूठ बोलकर जो धोखा दिया जाता है, वह न रहे। चोरी, डकैती, व्यभिचार और अपहरण इसी सत्य की हत्या के ही तो परिणाम हैं। प्रायः सभी को इस असत्य प्रचार से हानि उठानी पड़ती है, तो भी मनुष्य-स्वभाव कुछ ऐसा विलक्षण है कि वह सत्य से असत्य की ओर जल्दी आकर्षित हो जाता है।

सत्य के एक दो लाभ नहीं हैं, जो गिनाये जाँय। सत्य से ही जीवन में संपूर्ण सुख और शान्ति का समावेश होता है। निर्भीकता साहस और विश्वास सत्य के ही फल हैं। त्याग, तपस्या और संयम सत्य के मुख्य आधार हैं। जो सत्य बोलने का अभ्यास करता है, उसे अपनी समस्त इन्द्रियों पर शासन करना पड़ता है। इस संसार में सत्याचरणी के सामने पद-पद पर परीक्षा का अवसर उपस्थित होता है। उस समय वही खरा उतरता है जो संयमी है, जो बड़े से बड़ा त्याग करने में हिचकता नहीं।

यदि ज़रा ध्यान से देखा जाय तो दुनियाँ के ह्रास और अनुन्नति में असत्य का ही हाथ है। इस असत्य ने पारस्परिक विश्वास को इस प्रकार खो दिया है कि भाई भाई के प्रति संदेह

रखता है, पुरुष स्त्री के प्रति संशयालु है, मित्र मित्र की बात का भरोसा नहीं करता, पड़ोसी पड़ोसी को अविश्वास की नज़र से देखता है, जबकि सबको अच्छी तरह यह मालूम है दुनियाँ का कोई काम बिना एक दूसरे पर पूरा विश्वास किये नहीं चल सकता। घर में किसी की आकस्मिक मृत्यु हो जाती है तो पुलिस के संदेह का शिकार बनना पड़ता है, जो नौकर बाज़ार से सौदा खरीद कर लाता है उसकी ईमानदारी हमेशा संशय की वस्तु बनी रहती है। पर क्या यह संभव है कि जीवन के समस्त कार्य अपनी आँखों के आगे ही हुआ करें? कदापि नहीं। इसके लिए सत्य को ही अपना प्रिय बन्धु बनाना पड़ेगा। अगर सब लोग सत्य को आश्रय देने लगें तो फिर दुःख, बाधाएँ, अविश्वास और दुर्गुण रह ही कहाँ जाँय!

अपने दोषों को छिपाने अथवा हानि तथा विपत्तियों से बचने के लिए ही लोग असत्य बोलते हैं, पर उन्हें जानना चाहिए कि एक असत्य को छिपाने के लिए अनेक झूठ बोलने पड़ते हैं। इस लिए एक दोष को प्रकाशित कर देना उतना हानिकर नहीं है जितना कि उस दोष को ढकने के लिए किए गये अनेक दोषों का एक साथ भंडा फूटना है। प्रायः ऐसा ही होता भी है। अन्त में जब असत्य प्रकाशित होता है तो उसका रूप बहुत भयंकर होता है। इसी अवस्था को लक्ष्य कर के गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है, "उघरे अन्त न होहि निबाहू। कालनेमि जिमि रावण राहू।"

कोई कोई नीतिकारों के 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् मा ब्रूयाः सत्यमप्रियं' को लेकर अपने असत्य की वकालत करते हैं। उन्हें यह जानना चाहिए कि इसमें असत्य की प्रशंसा नहीं है, न ही उसका समर्थन किया गया है। इसका तो यही तात्पर्य है कि सत्य

जैसे शुद्ध, निर्मल, सुगन्धित पदार्थ को लेकर दुरुपयोग के नाले में न फेंक दिया जाय। सत्य ढाल की तरह अपनी रक्षा में इस्तेमाल करने के लिए है, आप उसे तलवार बना कर दूसरे का गला काटने लगें यह उसे वर्दाश्त न होगा। प्रिय सत्य वोलो, अप्रिय सत्य मत बोलो, इसका मतलब यही है कि सत्य को कठोर बनाकर दूसरों का हृदय विद्ध मत करो। अन्धा अपनी चक्षुहीनता को स्वयं जानता है, तुम सत्यवादी बनने के उन्माद में उसे 'अन्धा-अन्धा' मत पुकारो। यही अप्रिय सत्य है।

हाँ, यह अवश्य है कि जीवन में कभी-कभी कई ऐसे अवसर भी आ जाते हैं, जहाँ सत्य से दूसरों की हानि और असत्य से परोपकार होने की संभावना होती है। ऐसे समय पर सत्य के लिए धर्माचार्यों ने भी अपवाद रक्खा है। उस समय का असत्य मनुष्य के लिए कलंक की बात नहीं है। किन्तु ऐसे अवसर का ज्ञान भी तो सबको होना कठिन है। यह तो उन्हीं को हो सकता है जिनकी बुद्धि दर्पण की तरह निर्मल हो, जिन्होंने अपने जीवन में सत्य की सुन्दर-मूर्ति को पहचान लिया हो। यह अपवाद साधारण लोगों के लिए नहीं है, और न वे इसमें पूरे उतर सकते हैं। हमारे यहाँ हरिश्चन्द्र जैसे सत्यवादी हो गए हैं। उन्होंने जिसे स्वप्न में सत्य समझ लिया उसके लिए वे अपने सर्वस्व को अर्पण करने पर तुल गये। उनका सत्याचरण देखकर विस्मय होता है। साधारण लोगों को तो उनकी कथा एक कल्पना का चित्र प्रतीत होती है। उन हरिश्चन्द्र ने अपवाद की शरण कभी नहीं ली। इसलिए सत्याचरणी को अपवाद के सहारे का भरोसा नहीं रखना चाहिए। उसे तो सत्य को सत्य के हेतु आदर देना चाहिए।

इसलिए यदि हम लोग चाहते हैं कि हम सत्यवादी बनें, हमारे

जीवन में सत्य की प्रतिष्ठा हो, यह असत्य का अंधकार दूर हो जाय, तो हमें सबसे पहले ईश्वर पर विश्वास करना चाहिए। यदि हमारा ईश्वर पर पूर्ण विश्वास होगा, उसकी सर्वज्ञता से हम संदेह न करेंगे, तो हम सर्वत्र उसके अस्तित्व को प्रतीत करेंगे। हमें यह निश्चय हो जायगा कि ऐसा कोई स्थल नहीं है जहाँ वह विद्यमान नहीं है, ऐसा कोई गोपनीय कार्य नहीं है जो वह नहीं जानता। जब हमें यह विश्वास हो जायगा तो हमारे मुँह से असत्य निकलेगा ही नहीं। हम असत्य इसलिए बोलते हैं कि कोई दूसरा हमारे रहस्य को न जाने? जब हमें यह निश्चय रहेगा कि हमारा कोई भेद गुप्त है ही नहीं, ईश्वर तो हर एक बात जानता है, तो उसे असत्य के द्वारा गोपनीय रखने का हम प्रयत्न ही नहीं करेंगे। इस प्रकार ईश्वर पर पूर्ण भरोसा रखने से हम सहज ही जीवन में सत्य की स्थापना कर सकते हैं और उसके सुफल का उपयोग कर सकते हैं।

कविता का स्वरूप

कविता का लक्षण भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न किया है। कोई कहता है "कविता संगीतमय विचार है;" कोई कहता है "कविता पद्यमय निबन्ध है"; कोई कहता है "कविता मानवजीवन की व्याख्या है;" कोई कहता है "रमणीय अर्थ का प्रतिपादक वाक्य ही कविता है," कोई "रसात्मक वाक्य" के अतिरिक्त किसी को कविता नहीं मानता। लेकिन ये सब लक्षण ऐसे ही हैं जो कविता के स्वरूप पर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से विचार उपस्थित करते हैं। उसके लक्षण की पूर्ण व्याप्ति इनमें घटित नहीं होती, इसलिए ऊपर दिए गये लक्षणों से हमें सन्तोष नहीं होता। हमें अपने सन्तोष के लिए उसका दूसरा लक्षण करने की आवश्यकता होती है, अतः जो भी कविता के स्वरूप पर कुछ कहने का प्रयास करता है उसे फिर आरंभ से ही चलना पड़ता है। कविता के स्वरूप की चिरनूतनता ही उसके किसी सर्वसम्मत लक्षण-निर्माण में बाधक है। कविता के मर्म को समझनेवाले प्रसिद्ध समालोचक पं० रामचन्द्र शुक्ल ने कविता का लक्षण यों किया है, "कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक संबन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है।"

यद्यपि यह लक्षण 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' का ही व्यापक रूप है, तो भी इसमें बात बहुत साफ होगई है। फिर शुक्लजी स्वयं

ही उक्त लक्षण की टीका इस प्रकार करते हैं, 'कविता उन मूल और आदिम मनोवृत्तियों का व्यवसाय है जो सजीव सृष्टि के बीच सुख-दुःख की अनुभूति से विरूप परिणाम द्वारा अत्यन्त प्राचीन कल्प में प्रकट हुई और जिनके सूत्र से शेष सृष्टि के साथ तादात्म्य का अनुभव मनुष्य जाति आदि-काल से करती चली आई है।" इससे यह स्पष्ट होगया है कि कविता का उद्देश्य वाह्य सृष्टि के नाना रूपों के साथ मनुष्य की अन्तःसृष्टि का सामंजस्य कराने का है। वाह्य सृष्टि के अनन्त व्यापारों और रूपों की जैसी प्रतिच्छवि मनुष्य के अन्तःपटल पर प्रतिफलित होती है, वैसे ही उसमें प्रेम, क्रोध, हास्य, करुणा और घृणा आदि मनोभावों का उदय होता है। कविता इन्हीं विविध मनोवेगों की अभिव्यंजना और अनुभूति में प्रवृत्त होती है। रसवादी और आलंकारिक, छन्द के हिमायती तथा ध्वनि-संप्रदायवालों का अपनी अपनी श्रेष्ठता प्रतिपादित करना व्यर्थ सी बात है। इन मतान्तरों का कारण लक्षणों की बहुलता है। कुछ का जन्म रस आदि के भेद-प्रतिभेदों के कारण भी होगया है। वाह्य संसार के अनन्त रूपों और व्यापारों की अभिव्यंजना नवरसों में होनी अशक्य समझकर लोगों ने विविध मार्गों का अवलंबन किया। धीरे-धीरे परंपरा-पालन में कभी-कभी ऐसे संकुचित मार्ग का अनुसरण किया गया, कि कविता की स्वाभाविकता का नाश होगया। कहीं उक्ति-चमत्कार को ही कवित्व समझ लिया गया, कहीं वर्ण और मात्राओं की नियत संख्या ही कविता कहलाई। कहीं अनुप्रास और तुक का राज्य होगया। कहीं वस्तुओं और व्यापारों को गिनाकर रस की निष्पत्ति समझ ली गई। कहीं उपमा और उत्प्रेक्षा, तो कहीं लक्षणा और व्यंजना की ही दुहाई फिरी। लोक-जीवन की व्यापक अनुभूति का

अभाव हो जाने से कविता का स्वरूप भी पंथ और संप्रदाय के साथ परिवर्तित होने लगा।

प्रारंभिक संस्कृत काव्य में उसी व्यापक आदर्श का चित्रण है। इसीलिए उसकी मार्मिकता सदा मानव हृदय को छूती और उसे आह्लादित करती है। हिन्दी साहित्य को संस्कृत के उत्तरकालीन काव्य का उत्तराधिकार मिला। संस्कृत का उत्तर-कालीन काव्य भी अपने प्राचीन व्यापक आदर्श से दूर जा पड़ा था। वही बात हिन्दी में रही। व्यापकता की ओर लक्ष्य न होने से धीरे-धीरे वह नायक-नायिका के हाव-भावों, षड्ऋतु-वर्णन और अनुप्रासों की बहार अथवा उपदेशों की भरमार में उतर गया। आदि कवि वाल्मीकि के काव्य में जो व्यापकता है और जिसके कारण उसमें नदी, वन, पर्वत, वृक्ष, ऋतु, काल, पशु, पक्षी, जड़ और चेतन समस्त सृष्टि सजीव हो उठी है, उसका हिन्दी काव्य में अभाव है। यहाँ चन्द्रमा नायिका के विरह को बढ़ाने के लिए ही निकलता है, उसका दूसरा उद्देश्य नहीं। उषा वियोगिनी का रक्तपान करने के कारण ही लाल-लाल दीखती है। प्रकृति के समस्त व्यापार नायक-नायिका के संयोग-वियोग को ही लक्ष्य में रखते हैं। यह बुराई कई अंशों में वर्तमान हिन्दी काव्य में भी चली जा रही है। उर्दू और फारसी काव्य का संसर्ग भी इस एकदेशीयता को बढ़ाने का बहुत कुछ कारण हुआ है।

अब हम काव्य के उपादानों का निरूपण करके उसके स्वरूप का विचार करेंगे। बाबू श्यामसुन्दरदास ने काव्य के दो मुख्य उपादान गिनाये हैं—(१) जीवन-व्यापार के निरीक्षण द्वारा संचित वह सामग्री जो काव्य का आधार होती है। (२) वह कौशल जिसका प्रयोग कवि उस सामग्री को काव्य का रूप देने में करता है। इनमें

से दूसरा उपादान चार मूल तत्वों पर अवलंबित है—(क) बुद्धि-तत्व अर्थात् वे विचार जिन्हें कवि विषय-प्रतिपादन में प्रयुक्त करता है। (ख) रागात्मक तत्व अर्थात् वे भाव जो काव्य-विषय कवि के मन में उत्पन्न करते हैं और कवि जिनका पाठकों के हृदय में संचार करना चाहता है। (ग) कल्पनातत्व अर्थात् मन में किसी विषय का चित्र अंकित करने की शक्ति, जिसे अपनी कृति द्वारा वह पाठकों के सामने यथावत् उपस्थित करना चाहता है। (घ) अलंकार। उपरोक्त चार तत्वों में से प्रथम तीन का होना तो कविता में अनिवार्य है। ये ही काव्य के आधार और प्राण हैं। चौथा तत्व होने से उसकी स्वाभाविक सुन्दरता में कुछ वैलक्षण्य अवश्य आ जाता है, इसलिए उसकी भी आवश्यकता कम नहीं है, पर कहीं वह न भी हो तो भी काम चल सकता है।

इस प्रकार हमें यह ज्ञात हो गया कि कविता के रूपनिर्माण में अनुभव, विचार, भाव, कल्पना और अलंकार या वाग्वैदग्ध्य की आवश्यकता होती है। इन सबका आधार अनुभूति है। अनुभूति जितनी ही प्रबल होगी, भाव और विचार भी उतने ही मार्मिक और स्पष्ट होंगे। कल्पना की आधारभूमि भी एक प्रकार से अनुभूति ही है। जिसकी अनुभूति जितनी व्यापक होती है उसकी कल्पना भी उतनी ही अनोखी और उतनी ही नूतन होगी। भावों और कल्पना की प्रचुरता के कारण वास्तविक वस्तुएँ भाव जगत और कल्पना-जगत की वस्तुएँ प्रतीत होने लगेंगी। पर इन्हीं गुणों के कारण कविता का रूप स्थिर नहीं होता। हम यह नहीं कह सकते कि जहाँ भावों और कल्पना का बाहुल्य हुआ, वहीं कविता का प्रादुर्भाव भी हुआ। अधिक से अधिक इतना ही कह सकते हैं कि इन दोनों तत्वों के कारण कोई रचना कवितामय कहला सकती

है। गद्य में भी इन तत्वों का समावेश हो सकता है, पर ऐसा गद्य कवितामय कहलावेगा कविता नहीं। कविता के लिए उपर्युक्त तत्वों के साथ-साथ उपयुक्त भाषा, वृत्त या छन्द की भी आवश्यकता है, यद्यपि छन्द या वृत्त कविता के वाह्य रूप हैं और उसका अन्तरात्मा भाव और कल्पना हैं। केवल छंद या वृत्त अर्थात् कविता का वाह्य रूप ही होने से कोई रचना जिस प्रकार पद्य ही कहला सकेगी, उसी प्रकार केवल अन्तरात्मा के होने से कोई रचना भी कविता के नाम और रूप की अधिकारिणी न होगी। ऐसी दशा में उसे कवितामय या गद्यकाव्य ही कहा जायगा। वास्तविक कविता में वाह्य और अन्तरात्मा दोनों का पूर्ण संयोग आवश्यक और अनिवार्य है।

कुछ लोग कविता के लिए छंद या वृत्त की आवश्यकता नहीं समझते। उनका कहना है कि छन्द कविता का वाह्य रूप नहीं है बल्कि उसका परिधान है। उसकी अन्तरात्मा और शरीर तो अन्य उपादानों द्वारा ही निर्मित हो जाते हैं। भावना, कल्पना और विचार जहाँ उसकी अन्तरात्मा का निर्माण करते है, वहाँ अलंकार अथवा शैली में उसका आकार निहित होता है, फिर छन्दों की आवश्यकता, यदि हो तो एक मात्र उसके परिच्छद के ही लिए रह जाती है। जो भी हो, हमारा तो कहना यही है कि छंद कविता के लिए आवश्यक हैं। चाहे उसके शारीरिक उपादान के रूप में कहिये अथवा परिधेय के रूप में। लय और संगीत-रूपी परिधान के बिना भी तो कविता-कामिनी इस संस्कृत समाज में चल फिर नहीं सकती। कविता मानव-हृदय का सबसे कोमल, मधुर और तरल व्यापार है। वह लय और संगीत से विहीन कैसे होगा, जब सारी सृष्टि ही संगीतमय है। वायु के मन्द-मन्द संचरण में भी एक

अनवरत रागिनी गूँज रही है। झरनों के कलकल प्रवाह में भी स्वर का एक अपूर्व सामंजस्य है। पत्तों की सरसराहट सरिताओं का प्रवाह, पक्षियों का कलरव, सागर का गंभीर गर्जन सभी में तो एक संगीत है और वह मनुष्य की आत्मा को अनिर्वचनीय आनन्द और संतोष प्रदान करता है। प्रकृति के इस अविराम संगीत से भी तृप्त न होकर मानव अनेकानेक वाद्ययन्त्रों के निर्माण में प्रवृत्त होता है। अपने प्रत्येक उत्सव और मंगलकार्य को वह संगीत से पवित्र करता है। इससे ज्ञात होता है कि मानवजीवन में संगीत का कितना महत्त्व है। इतना होने पर भी अपनी सर्वोत्तम कला को वह संगीत-विहीन कैसे रख सकता है? इसलिए अनादि-काल से कविता और संगीत का ऐसा पारस्परिक सम्बन्ध रहा है कि एक के बिना दूसरे की कल्पना ही नहीं हो सकती। सब जातियों और सब देशों की कविता में छन्द का अस्तित्व इसी बात का बोधक है। आदि कवि वाल्मीकि के मुख से कविता गद्य में नहीं, छंद में ही निकली थी, और वही स्वाभाविक था।

थोड़े में हम इस प्रकार कह सकते हैं कि अनुभूति कविता की आधारभूमि है। जिस कवि को संसार का जितना बारीक अनुभव होता है उसके विषय की व्यापकता और प्रतिपादन-शैली दोनों उतनी ही उत्कृष्ट होती हैं। विचार, कल्पना और भाव इन तीनों के मेल से किसी रचना में कवित्व का समावेश होता है। अलंकार या शैली से उसके रूपसौष्ठव का विधान होता है। छन्द उसे तरलता प्रदान करता है। इसलिए कविता का स्वरूप समझने के लिए इनका समझना आवश्यक है। यथार्थ कविता में इनका संयोग इस प्रकार होता है, जो देखते ही बनता है।

———

संतोष

भरसक प्रयत्न करने के बाद जो कुछ प्राप्त हो उसी में आनन्द मानते रहने का नाम सन्तोष है। सन्तोष दुनियाँ की व्यर्थ हाय-हाय में नहीं पड़ता। सन्तोष फल की ओर सतृष्ण नेत्रों से नहीं देखता। सन्तोष छोड़े हुए कार्य की पूर्ति की ओर दत्तचित्त रहता है। फल की ओर पहले से ही कोई आशा कर बैठने की उसमें आदत नहीं, इसी से अभीष्ट फल पाने से सन्तोष की मात्रा बढ़ती नहीं और अनभीष्ट फल से उसकी मात्रा में कोई कमी नहीं आती। वह सदा एकरस और निर्विकार रहता है। सन्तोषी आदमी थोड़े में भी प्रसन्न रहता है। वह दुःख में भी दुखी नहीं होता। असन्तोषी के लिए कुबेर का वैभव भी कम नहीं है। कहा भी है—

वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं दुकूलैः
सम इह परितोषो निर्विशेषो विशेषः।
स हि भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला,
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः॥

अर्थात् हम छाल के कपड़े पहन कर ही सन्तुष्ट हैं, तुम सुन्दर रेशमी वस्त्र पहनते हो। दोनों में संतोष समान ही है। कोई विशेषता नहीं है। वास्तव में दरिद्र वही है, जिसकी तृष्णा बड़ी है। नहीं तो कौन धनवान है और कौन दरिद्र है?

इससे यह भी न समझना चाहिए कि भाग्य के भरोसे बैठे रहना भी सन्तोष है। वह तो सन्तोष नहीं, निरुद्यम है। निरुद्यम और आलस्य मनुष्य के शत्रु हैं, जब कि सन्तोष उसका अंतरंग

मित्र है। निरुद्यमी और आलसी मनुष्य जीवन को भार रूप समझता है। संसार में उसके लिए कोई आकर्षण नहीं। विद्या और कलाएँ, कर्त्तव्य और धर्म सब उसके लिए व्यर्थ के आडंबर हैं। उसका जी किसी बात में नहीं लगता। वह तो मरा और जीवित बराबर होता है। जब कि सन्तोषी पुरुष अपने भोगविलास की आकांक्षा से रहित होने पर भी सृष्टि-व्यापार में अपना समुचित सहयोग देता है। वह दुनियाँ को कर्मभूमि समझता है। विद्या और कला, सबके निर्माण और उपार्जन में लवलीन रहता है। सन्तोष की भावना अपनी ओर निवृत्तिमुखी पर जगत की ओर प्रवृत्ति-मुखी है। सन्तोषी होने से जगत के व्यापारों में कोई बाधा नहीं होती।

दुनियाँ के बड़े-बड़े कार्य सब सन्तोषी पुरुषों के ही किये हैं। असन्तोषी आज जिस काम को आरंभ करता है, कल उसे अधूरा छोड़ देता है। सन्तोषी थोड़े लाभ से सन्तुष्ट रहकर उसमें लगा रहता है, और अन्त में उसे पूरा करके ही छोड़ता है। सन्तोषी आदमी का मन स्वाधीन और शांत रहता है। थोड़ा-बहुत लोभ उसकी चित्तवृत्ति को झुका नहीं पाता। इसलिए पराधीनता और परवशता का भाव उसके मन में आने नहीं पाता। ईश्वर की ओर उसका मन सदा लगा रहता है। उसे जो कुछ प्राप्त हो जाता है उसी को वह ईश्वर की देन समझता है और सदा उसके प्रति कृतज्ञ रहता है। अपने स्वार्थों की हानि होने पर वह धर्म और ईश्वर दोनों के विरुद्ध विद्रोह का झंडा ऊँचा नहीं करता। वह दुःख में, सुख में, सदा उसकी कृपा के आगे नमित रहा करता है।

सन्तोषी होने के लिए सबसे पहली बात है चित्तसंयम, जिसका अपने मन के ऊपर अधिकार नहीं है वह सन्तोषी कैसे बन सकता

है? वह तो जहाँ अपने से अधिक संपन्नता देखेगा, उधर ही उसका मन लालायित हो जायगा। लोभ के साथ ही साथ उसके हृदय में जलन और ईर्ष्या आदि दुर्विचार मन में घर करने लगेंगे। सन्तोष का पदार्पण अस्थिर चित्त में नहीं होता। सन्तोषी को संसार की क्षणभंगुरता पर अटल विश्वास होना चाहिए। जब उसे यह ध्यान रहेगा कि—इस अस्थिर जीवन के लिए हमें हाथी-घोड़ा, महल-खजाना जमा करने की क्या आवश्यकता है, तब वह निष्काम कर्म में परम आनन्द मानेगा। परोपकार को प्रश्रय देगा। जो कुछ कर्त्तव्य है उसे जल्दी से जल्दी करने का यत्न करेगा। तभी उसके द्वारा समाज, जाति, देश, राष्ट्र और मानव-समाज का हितसाधन होगा। तीसरे सन्तोष के अभिलाषी को सदा मन में इस प्रकार की भावना रखनी चाहिए कि हमारे पास प्रयोजन से अधिक धन है, और हम पहले से अधिक प्रसन्न हैं। यह भावना धीरे-धीरे और बहुत संयम के उपरान्त उदय होगी। पर इसका होना आवश्यक है। इससे चित्त की चंचलता शांत होगी, तृप्ति और सन्तोष की प्रस्थापना होगी।

सन्तोष के अनेक लाभ हैं। उन सब में भी प्रमुख लाभ है मानसिक शान्ति। मानसिक शांति के सामने दुनियाँ का वैभव कोई मूल्य नहीं रखता। अनेक उदाहरण ऐसे दिए जा सकते हैं कि मानसिक शान्ति के लिए लोगों ने स्त्री-बच्चों, घर-परिवार, धन और राज्याधिकार सबको तृणवत् परित्याग कर दिया है। मानसिक शान्ति के लिए विद्वान विद्या के सागर में डुबकी लगाते लगाते जीवन व्यतीत कर देते हैं। मानसिक शान्ति के लिए सारी दुनियाँ पागल हो रही है। कोई बच्चे को परम शान्ति का आधार समझता है, तो कोई स्त्री में, कोई धन में और कोई परिवार में शान्ति

समझ बैठा है। पर यह सब भ्रान्ति है; सच्ची शान्ति, यदि दुनियाँ में कहीं है तो सन्तोष में।

सन्तोष का दूसरा बड़ा लाभ यह भी है कि उसका शारीरिक स्वास्थ्य पर बहुत अच्छा असर पड़ता है। तभी तो सर्प हवा पी कर रहने पर भी दुर्बल नहीं होते। जंगल के हाथी सूखे तृण भक्षण करने पर भी बलवान ही देखे जाते हैं। ऋषि-मुनि कंद-मूल-फल खाकर ही लंबी-लंबी आयु का उपभोग करते हैं। ग्रामीण लोगों का संतोष ही उनकी शरीर-रूपी संपत्ति का कारण होता है। शोक, रोग और यन्त्रणाएँ ही शरीर का ह्रास करती हैं। जो संतोषी होता है वह दुःख में भी दुःख नहीं मानता। उसके ऊपर रोगों और यन्त्रणाओं का वैसा तीव्र प्रभाव नहीं पड़ता जैसा अधीर और असन्तोषी पर पड़ता है। संतोषी आदमी साधारण कष्टों को तो हँसते हँसते झेल लेते हैं। राम के पिता ने उनके राज्याभिषेक की घोषणा सारे नगर में करा दी थी। सब लोग उत्सुक और अधीर हो कर उस शुभ समय की प्रतीक्षा में थे कि बात बदल गई। राजा ने छोटी रानी के कहने से आकर दूसरी ही आज्ञा दे डाली। राम को चौदह वर्ष का वनवास हो गया, पर संतोषी राम को इससे ज़रा भी कष्ट न हुआ। वे राज्य पाने में जितने प्रसन्न थे वन जाने में भी उतने ही प्रसन्न दिखाई दिए। इसी संतोष की बदौलत उनमें इतना वीर्य और तेज था कि वे रावण जैसे शत्रु को पराजित कर सके।

कहीं कहीं संतोष का दुरुपयोग भी देखा जाता है। इसलिए एक सीमा तक ही संतोष करना श्रेयस्कर है। साथ ही जिन बातों में संतोष करने से देश, जाति या समाज के हित की हानि होती हो वहाँ संतोष को छोड़ना ही समीचीन है। उस समय तृष्णा और अतृप्ति ही परमावश्यक है। विद्योपार्जन, परोपकार और सेवा में

संतोष करने से उलटा ही फल होता है। दो शब्द में यों कह सकते हैं कि स्वार्थ के प्रति संतोष उच्च और महान है, पर परार्थ के प्रति संतोष निरुद्यम और कर्तव्यविमुखता है। संतोष का एक दुष्परिणाम और भी देखा जाता है। कभी कभी कोई जाति अपने पतनकाल में झूठमूठ इसी का आश्रय लेने लगती है। संतोष अत्यन्त उच्च आदर्श है और महान संयम का फल है। इसीलिए पतित और कायर, निन्दा और अपवाद से बचने के लिए, इसी को अपनी शरणभूमि बनाते हैं, या यों कहें कि संतोष के शुभ्र नाम को कलंकित करते हैं। यह संतोष का दोष नहीं है, यह तो ऐसे अवसरों पर स्वाभाविक है। साधुओं के वेश में असाधुओं का मिलना साधुओं के लिए दोषान्वित नहीं हो सकता।

अन्त में यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि 'संतोष परमं सुखम्।' अन्य जितनी भी अवस्थाएँ हैं वे सभी इस परम सुख की भिखारिणी हैं। तभी तो कहा है—"धन की इच्छा करने वाला दीनता दिखलाता है। जो धन कमा लेता है वह अभिमान में चूर रहता है; और जिसका धन नष्ट हो जाता है वह शोक करता है। इसलिए जो निस्पृह है, संतोषी है, वही सुखी है।" डायोजिनीस के लिए एक स्नानपात्र भी बहुत था, पर सिकन्दर के लिए सारा संसार भी थोड़ा था। हमारी आजकल की सभ्यता में सिकन्दर की सी अतृप्ति है, तृष्णा है और उपभोग की आकांक्षा है। हम सारी दुनियाँ की विलास-सामग्री को केवल अपने उपयोग में ही ले आना चाहते हैं। तभी तो हम अपने पूर्वजों के Simle living and high thinking' वाले महान आदर्श से दूर होते जा रहे हैं। जीवन में अतृप्ति की ज्वाला बढ़ती जा रही है, जो महा अनिष्टकर है।

तीरथ गए सो तीन जन, मन चंचल चित चोर,
एकौ पाप न काटिया, सौ मन लादा और।

इस दोहे का आशय यही है कि बुरे भाव से कितना ही अच्छा काम क्यों न करो, उससे किसी सुफल की आशा नहीं होती। कबीर ने भी कहा है कि अगर केश के मुँड़ाने से ही वैकुंठ की प्राप्ति संभव होती तो भेड़ों को भी उसकी प्राप्ति होनी चाहिए थी। अगर गंगा में गोता मारने से ही मुक्ति मिल सकती तो मेंढकों और मछलियों को अब तक मुक्त हो जाना चाहिए था। पर ऐसा संभव नहीं है, और न होता ही है। भक्ति, भावना और आंतरिक श्रद्धा बिना कोई काम पूर्ण नहीं होता। कलुषित हृदय को लेकर सत्पथ पर चले जाने से पुण्य की प्राप्ति नहीं होती, उलटा पाप गले पड़ता है। पूर्ण आस्था के बिना स्वर्ग की सड़क भी नरक के ही दरवाज़े पर पहुँचाती है।

जिन तीन आदमियों को दोहे में लक्ष्य किया गया है, उनमें पहला है चंचल-मन वाला अर्थात् जिसका मन इधर से उधर भटकता रहता है। जहाँ किसी अच्छी चीज़ को देखता है, वहीं दौड़ जाता है। किसी की सुन्दरी स्त्री को देखा तो पापपूर्ण विचारों में डूब गया। किसी की धन-संपत्ति को देखा तो उसी पर लुभा गया। किसी की सुख-संपन्नता पर नज़र पड़ी तो ईर्ष्या से

परिपूर्ण हो गया। ऐसे आदमी का मन सदा ही चंचल रहता है। उसे लाख-करोड़ रुपया मिल जाय तो भी उसकी लोलुपता नहीं जा सकती। उसके घर में सुन्दरी स्त्रियों का मेला लगा हुआ हो तो भी उसकी रूप-वासना तृप्त नहीं होगी। संसार की सुख-संपन्नता उसके द्वार पर हाथ बाँधे खड़ी हो तो भी वह कंगाल की तरह मुँह फैलाये रहेगा। अलाउद्दीन का हरम बेगमों से भरा था, प्रत्येक जाति और प्रत्येक देश की सुन्दरियाँ उसके अन्तःपुर की शोभा बढ़ाती थीं, फिर भी उसका-सा रूप-लोभी दूसरा सुना नहीं गया है। रूप के पीछे उसने चित्तौड़ में खून की नदी बहाने में संकोच नहीं किया। ऐसा लोलुप आदमी जहाँ जायगा, वहीं अपनी वासना को तुष्ट करने की बात सोचेगा। उसके लिए न कोई मन्दिर है, न मस्जिद, न कोई गिरजा है, न कोई पैगोडा। धर्म और तीर्थ सब उसकी वासना-तृप्ति के साधन हैं। मक्का और मदीना, काशी और काबा—जहाँ भी जायगा उसकी वासना उसके साथ जायगी। हरद्वार और प्रयाग की गलियों में उसके मन की चंचलता शांत नहीं हो सकती। त्रिवेणीतट और वृन्दावन उसके लिए वेकार हैं। यदि वह इतने पर भी जायगा ही तो अपने पापों के बोझ को बढ़ा लायगा। वह तो अपनी आदत से लाचार है। उसका तो मन ही काबू में नहीं है। दुनियाँ तो यों ही प्रलोभनों से भरी पड़ी है। अच्छे अच्छे इन्द्रियजित योगभ्रष्ट हो जाते हैं, वहाँ मनचलों का तो कहना ही क्या? पैसा गाँठ में हो, तो उनकी खुशी है, चाहे सातों धाम की यात्रा कर आएँ। पर यह आशा करना भूल है कि पापों की गठरी भी वे वहीं उतार आएँगे बल्कि वह गट्ठर तो उसी अनुपात से बढ़ जायगा। इसके विपरीत जिनका मन स्थिर है और उनके वश में है, वे चाहे तीर्थों की यात्रा करें या न करें उनके

चारों तरफ पुण्य का प्रकाश घिरा रहता है। जो कुछ प्राप्त है, उसी में परितोष करके जीवन व्यतीत करने वाले को पाप के बाप से भी डरने की ज़रूरत नहीं।

दूसरे चित्त चंचल अर्थात् अस्थिर बुद्धि लेकर तीर्थयात्रा करना भी उसी प्रकार निरर्थक है। जहाँ विश्वास नहीं होगा; जहाँ आस्था ही नहीं होगी, जहाँ विचार डाँवाडोल रहेंगे, वहाँ मन लगेगा ही कैसे? चित्तवृत्ति तीर्थ के महत्त्व में लीन कैसे होगी? महाशय कपूरचन्द को साधन प्राप्त हैं। उनके लिए धनुषकोटि और रामेश्वर पहुँचना कोई बड़ी बात नहीं है, पर धनुषकोटि के माहात्म्य को आस्थापूर्वक हृदयंगम कर सकना उनके लिए असंभव है। उनका हृदय तो संशय और संदेह से भरा हुआ है। पंडे के कहने से वे एक स्वर्ण मुद्रा चढ़ा सकते हैं, पर उनका चित्त इस बात पर नहीं जमता कि उनकी वह भेंट देवता के चरणों तक पहुँची भी है या नहीं? यही क्यों, उन्हें तो स्वयं देवता की शक्ति में ही कभी कभी अविश्वास हो जाता है। उनकी अस्थिर चित्तवृत्ति में धारणाशक्ति का सर्वथा अभाव है। निश्चयपूर्वक, दृढ़ता के साथ वे न कुछ सोच पाते हैं, न स्थिर कर पाते हैं। पाप में पाप का विवेक, और धर्म में धर्म का विवेक यदि कोई उन्हें करा दे तो भी उनका संशय दूर नहीं होता। तीर्थ की परिक्रमा करते-करते उन्हें गृहस्थी की चिन्ता सताया करती है। देवता को अर्घ्य देते-देते वे सोचते जाते हैं कि रामप्रसाद ने सूद नहीं चुकाया होगा तो उस पर नालिश करनी पड़ेगी। देवीदास के स्टांप की मियाद खतम होने वाली है, अगर भूल से बेटे ने उससे कागज़ न बदलवाया, लिखा-पढ़ी नये सिरे से न की गई, तो रुपया डूब जायगा। इस तरह के अनेक विचार महाशय कपूरचन्द के जी को किसी तरफ लगने ही नहीं

देते। ऐसी हालत में उनकी तीर्थयात्रा क्या किसी भाँति सफल हो सकती है। देवता का प्रवेश तो उसी हृदय-मंदिर में होता है जहाँ शान्ति विराजती हो। तीर्थ का फल भोग नहीं है, उसका फल तो दुनियाँ की कल्याण-कामना है। जिसने चित्तवृत्ति को चारों ओर से खींच नहीं लिया, जो इन्द्रिय-निरोध न कर पाया, जिसके मन में अपने और पराये का भाव बना रहा उसकी तीर्थयात्रा भी तो आडंबर के सिवाय और कुछ नहीं है।

रह गया चोर अर्थात् व्यसनी, उसका तो कहना ही क्या? उसके लिए तो घर बाहर सब एक बराबर है। उसे तो अपनी चोरी से मतलब है। माल चाहे धर्मात्मा का हो या पापी का, गरीब का हो या अमीर का, वह यह सब नहीं देखता। धर्मस्थल और तीर्थ, मन्दिर और मूर्ति, पुजापा और निर्माल्य सबकी वह चोरी कर सकता है। उसका व्यसन ही उसका देवता है, उसका व्यसन ही उसका धर्म है, उसका व्यसन ही उसका तीर्थ है। जिस पुरुष की तीर्थयात्रा दूसरों के सर्वस्व के हरण के उद्देश्य से ही की गई हो उसका फल पाप तो प्रत्यक्ष ही है। इसमें तर्क-वितर्क के लिए स्थान ही कहाँ है?

ऊपर वर्णित तीनों प्रकार के आदमियों का धर्म-कर्म दुनियाँ के साथ-साथ अपने आपको भी धोखा देना है। इसके अतिरिक्त एक कुपरिणाम और होता है कि साधुओं में असाधुओं को पाकर, धर्म-स्थानों में पापाचार देखकर, साधुओं और तीर्थ-स्थलों की महिमा लोगों के हृदय में कम हो जाती है। तीर्थस्थानों में चोरी, दुराचार और व्यभिचार की बातें सुनकर लोगों की श्रद्धा और आस्था को ठेस लगती है। इसलिए उपर्युक्त प्रकार के लोगों को तीर्थों और पवित्र स्थलों पर कृपा दृष्टि नहीं करनी चाहिए। ऐसा

करके वे न तो अपना कुछ लाभ करते हैं, न दुनियाँ का। जहाँ अपनी और दूसरों की हानि के अतिरिक्त किसी लाभ की आशा न हो, वैसा निरर्थक काम करना सरासर भूल है।

इसका यह भी मतलब नहीं कि "सौ चूहे खाने के बाद बिल्ली हज्ज को जा ही नहीं सकती।" भगवती भगीरथी की अवतारणा तो पापियों की कलुष-कालिमा को धोने के लिए ही हुई है। काशी धाम, प्रयाग, पुरी और द्वारावती ऐसे ही पुण्य स्थल हैं जहाँ उच्च, पवित्र और आदर्श वातावरण मिलता है। इन पुण्य स्थलों के साथ में चिरकालीन मानव हृदय की पवित्रतम भावनाएँ संलग्न हैं। पापी अगर वहाँ से लाभ न उठाएँगे तो कौन उठाएगा? ऊपर के दोहे का का तो केवल इतना ही मतलब है कि तीर्थ जाने से पहले आत्मपतन पर विचार कर लो। जिस पापमय जीवन से तुम मुक्त होना चाहते हो, उन्हीं पापों को अगर तीर्थ में भी करते रहोगे, तो तुम्हारा तीर्थ जाना न जाना बराबर है। मन की जिस चंचलता ने तुम्हारी मानसिक शान्ति को हरण कर लिया है, उस शान्ति को फिर से पाने के लिए तुम्हें पहले निश्चय करना चाहिए। पहले से तैयारी करके जो तीर्थों में जाता है, उसी को मनोवांछा पूरी होती है। तभी तो कहा है कि देवता की एक मुट्ठी में शाप है तो दूसरी में वरदान है। वरदान के जो अधिकारी है उन्हें वरदान मिलता है, पर जिनके मन मे मैल है, कालुष्य है, उन्हें देवता से भी अभिशाप के सिवा कुछ प्राप्त नहीं होता। इसलिए जिन्हें सचमुच अपने पापों का प्रायश्चित करना है वे निर्मल मन से, सम्पूर्ण विश्वास के साथ आगे बढ़ें तो अवश्य ही उन्हें धर्म की प्राप्ति होगी। पाप को उन्हें स्पर्श करने का साहस होगा।

मनका फेरत जुग गया, गया न मन का फेर।
कर का मनका छाँड़ि के, मन का मनका फेर।

माला फेरते-फेरते जिसका सारा जीवन व्यतीत हो गया लेकिन हृदय के छल-कपट को दूर नहीं कर पाया, उस आत्म-प्रवंचक के प्रति किसी महात्मा उपदेशक का कथन है,—कि भाई अब भी समझ जा और राहे-रास्त पर आ जा। हाथ की माला को एक तरफ रख दे। उससे कुछ होने-जाने वाला नहीं। दिखावे में तूने बहुत कुछ खो दिया है। अब तो मन की माला फेरे बिना काम नहीं चलेगा। जब तक हृदय के छल-प्रपंच को त्यागकर उसे निर्मल और स्वच्छ नहीं बनाएगा, तब तक निस्तार नहीं है।

चार आने की माला खरीदकर बैठे-बैठे उसकी गुरियों को घुमाते रहना एक सीधा और सरल रास्ता है। जो चाहे वही मालाधारी बन सकता है। इसी से गली-गली, गाँव-गाँव माला-धारियों का जमघट देखा जाता है। किसी नदी के घाट पर जाँय तो वहाँ भी आप मालाधारियों को पायँगे। जहाँ चार नशेबाज़ चरस का दम लगा रहे हों वहाँ भी उनका अस्तित्व मिल जायगा। ऐसे मालाधारियों को किसी बात से परहेज़ नहीं होता। वे सूद खा सकते हैं। वे व्यापार कर सकते हैं। वे मुकद्दमा लड़ सकते हैं। वे झूठी-सच्ची गवाही दे सकते हैं। वे परस्त्री और पराये धन में आसक्त हो सकते हैं। वे अखाद्य खा सकते हैं, और अपेय पी सकते हैं। उनके एक हाथ में सुमिरनी घूमती जाती है, दूसरे हाथ

से वे जाली दस्तावेज़ पर हस्ताक्षर करते जाते हैं। उनका एक हाथ सुमेरु पर है, दूसरा हाथ किसी मृगनयनी को अपनी तरफ़ खींच रहा है।

इसी तरह माला फेरते-फेरते एक युग बीत गया है। दुनियाँ को धोखा देने में काफ़ी सफलता मिली है। लोगों पर प्रभाव जम गया है। माला भी कैसी ढाल है, जिसके पीछे सब प्रपंच छिप जाते हैं। यह चार आने की माला त्यागियों के रजिस्टर में नाम लिखाने के लिए काफ़ी है। धर्म की यह ध्वजा है। सदाचार का यह साइनबोर्ड है। इसको हाथ में लेते ही लोगों के मस्तक आदर से झुकने लगते हैं। अन्धी दुनियाँ माला की ही ओर देखती है, व्यक्ति की ओर नहीं। मालाधारी चरस का दम लगाता जाता है, उसकी आँखों में दुराचार की मस्ती छायी हुई है, तो भी भले घरों की बहू-बेटियाँ उसके पास पहुँचती हैं। उसकी दुआएँ लेती हैं, उसकी साधुता में विश्वास करती हैं। उन्हें ज़रा भी संकोच या लज्जा नहीं होती। पुरुष भी उसके प्रभाव को मानते हैं। इसी से छली और कपटी सभी माला की शरण लेते हैं।

यह तो बने हुए धूर्तों की बात हुई, पर कुछ ऐसे नासमझ लोग भी होते हैं जो बाह्य आचार-विचार को ही धर्म और कर्तव्य की सीमा समझ बैठते हैं। उनकी यही धारणा होती है कि मुख से राम-राम कहना ही भक्ति की पराकाष्ठा है। त्याग, परोपकार, दान, इन्द्रिय-निग्रह, तपस्या, करने की आवश्यकता नहीं है। यही क्यों, यदि सुमिरनी हाथ में घूम रही है, यदि जिह्वा से राम-नाम उच्चारण हो रहा है, तो बस सब कुछ है। मन के क्रोध को, हृदय की ईर्ष्या को, अन्तःकरण के कालुष्य को वे कोई स्थान नहीं देते। उनकी दृष्टि बाह्य की ओर ही रहती है,

अन्तर् की ओर से वे उदासीन रहते हैं। ऐसे ही अज्ञानी लोगों का, जो भक्ति के स्थूल अंगों को ही सब कुछ समझ बैठे हैं, ऊपर के दोहे में ध्यान आकर्षित किया गया है। उन्हें बताया गया है कि बाहरी आचार-विचार की न्यूनता कोई बड़ी हानि नहीं है यदि हृदय की परिपूर्णता मौजूद है। जिह्वा पर राम चाहे हों, चाहे न हों, पर मन उनकी भक्ति से रँगा होना चाहिए। हाथ में सुमिरनी हो, चाहे न हो, पर हृदय में उसका ध्यान सदा बना रहना चाहिए। सच्ची भक्ति हृदय से होती है, आडंबर से नहीं। संसार में जितने भक्त हुए हैं, उन्होंने इसी मार्ग का अवलंबन लिया है। परमभक्त प्रह्लाद ने कौनसी माला फेरी थी ? शबरी ने राम के लिए कौन-सा पाठ किया था ?

एक बार हनुमान पर प्रसन्न होकर भगवान् रामचन्द्र ने उन्हें अपना मूल्यवान हार दे दिया। हनुमान, जिनका रोआँ-रोआँ राम के भक्तिरस से भीग रहा था, उस हार को लेकर उसके मोतियों को गौर से देखने लगे। उन्हें उन बड़े-बड़े मोतियों में कुछ दिखाई न दिया। इधर-उधर उलट-पलट कर देखने लगे। जब हताश हो गये तो दरबार में ही उन मोतियों को एक-एक कर फोड़ने लगे। दर्शक स्तब्ध थे और कुछ क्रुद्ध भी। उन्हें हनुमान के अज्ञान पर तरस आ रहा था। कोई कोई यह भी सोचते थे कि महाराज रामचन्द्र को इतनी भी परख नहीं है कि किसे क्या देना चाहिए। भला, उन्होंने इस मूर्ख को इतना मूल्यवान हार दिया ही क्यों ? पर राम को तो भक्ति की सजीवता का आदर्श उपस्थित करना था। केवल राम नाम उच्चारण करके भक्तों की श्रेणी में अपने आपको समझनेवालों के गर्व को चूर्ण करना था। उन्होंने हँसकर कहा—क्यों हनुमान ! मोतियों के भीतर से क्या तलाश रहे हो ?

हनुमान ने शेष मोतियों को एक ओर रखते हुए उत्तर दिया—भगवन्, यह हार तो सेवक के किसी काम का नहीं है। इसमें बाहर-भीतर कहीं भी तो भगवान् का नाम नहीं है। मैं तो आपको चाहता हूँ, हार से मेरा मतलब पूरा नहीं होगा।

हनुमान की तरह मन को भगवान् के चरणों में लीन किये बिना कुछ नहीं है। रोम-रोम में उसका रंग चढ़ना चाहिए। खुदी मिट जाय, अपनापन भूल जाय, वही सच्ची भक्ति है। भक्त के लिए और किसी भिन्न वस्तु का तो अस्तित्व है ही नहीं। मन की एकान्तता और अनन्यता ही उसकी साधना का जाज्वल्यमान रूप है। मणियाँ फिराते रहना और भगवा वस्त्र पहनना अनावश्यक है, यदि उसे मन की अनन्यता प्राप्त हो चुकी है। उसे तो सब कुछ छोड़कर भगवान् से यही विनय करनी चाहिए—

कृष्ण त्वदीयपदपंकजपञ्जरान्ते
अद्यैव मे विशतु मानसराजहंसः।

अर्थात् हे कृष्ण, अपने चरण-कमलरूपी पिंजड़े में हमारे मनरूपी हंस को प्रवेश करने दो।

और अपने मन को भी दृढ़तापूर्वक यह बात समझा देनी चाहिए—

रे चित्त चिंतय सदा चरणौ मुरारेः,
पारं गमिष्यसि यतो भवसागरस्य।

अर्थात् ऐ मन, सदा भगवान् के चरणों का चिन्तन कर, जो तुझे भवसागर से पार ले जाने वाले हैं।

मन की भ्रान्ति बड़ी बुरी बला है। इससे बड़ी कठिनाई से पल्ला छूटता है। जितनी सरलता से भक्ति के बाह्य उपकरण जुटाये जा सकते हैं, उससे अधिक कठिनाई और तपश्चर्या से

मनोनिग्रह होना है। माला तो हर कोई ले सकता है, पर उसे सार्थक वही कर सकेगा जो अंतिम श्वास तक दृढ़ रहने का संकल्प किये हुए है। धर्मग्रंथों और पुराणों में अनेक बड़े-बड़े भक्तों का उल्लेख हुआ है। उनके चरित्र का पारायण करने से हम देखते हैं, कि मनोनिग्रह की विभूति उन्हें भी बड़ी कठिनाई से मिली है। संसार के प्रलोभनों के बीच बारबार उन्हें फिसलना और पतित होना पड़ा है। धीरे धीरे अनवरत प्रयत्न के बाद उन्होंने मन की चंचलता को पराजित कर पाया है, और उसके स्थान पर दृढ़ता को प्रतिष्ठित किया है। इसलिए मन को वश में कर सकना हँसी खेल नहीं है।

दोहे की दो लाइनें संसार की यथार्थता का जिस प्रकार मार्मिकता से उद्घाटन कर रही हैं, उसी प्रकार वे उस आदर्श की ओर भी इंगित कर रही हैं जो अत्यन्त कष्टसाध्य है, पर जिसके बिना यह जीवन निःसार है। दुनियाँ की वास्तविकता में हम आडंबर और दिखावा ही अधिक देखते हैं, पर वही एक मात्र श्रेय और प्रेय नहीं है। उसके पीछे पड़कर उद्दिष्ट पथ से भ्रष्ट ही होना पड़ता है। उसे छोड़ने में ही कल्याण है। आदर्श प्राप्ति के लिए उसी साँकरी गली में से होकर गुज़रना पड़ेगा, जो इने गिने महात्मा और महापुरुषों ने अपने प्रयत्न से बना दी है। वह गली है मन की एकाग्रता और स्थिरता। चंचल मन से की गई युगों की तपस्या जो प्रभाव नहीं रखती, वह क्षण भर की एकाग्रता से संभव है। इसलिए वही श्रेष्ठ है। वही श्रेय और वही प्रेय है। उसी की उपलब्धि में मनुष्य को अपना कल्याण खोजना चाहिए।

पैसे बिन माता कहे, जनमा पूत कपूत।
भाई भी पैसे बिना, मारें लख सिर जूत॥

यह कथन उतना ही सत्य है, जितना सूर्य के उदय होने से प्रातःकाल का होना। पैसे की महिमा घर-घर में, परिवार परिवार में, इसी प्रकार की है। व्यावहारिक जीवन पैसे के द्वारा ही शासित हो रहा है। ऊँचे-ऊँचे आदर्शों की तालिका बताकर भले ही आदमी अपने को स्वार्थ के स्तर से ऊँचा उठा ले, स्नेह और सामीप्य के प्रेम-सम्बन्धों की ओर इशारा करके वह भले ही अपने त्याग की डुगडुगी पीटे, पर दुनियाँ जानती है कि पैसे ने सबको मुँह की खिलाई है। मित्रता के बीच में पैसे का पुल बना है, उसे तोड़ दो, दोनों ग़ैर हैं, बेगाने हैं। बन्धुत्व को पैसे ने एक धागे में जोड़ रक्खा है। एक झटका दो, भाई-भाई को नहीं पहचानेगा। वात्सल्य की माला पैसे के मोतियों से पिरोई गई है, स्वार्थसूत्र ने उन्हें ग्रथित कर रक्खा है, उस पर बल पड़ते ही वह छिन्न भिन्न हो जायगी। यह व्यवहार की बात है, आदर्श की नहीं। यह प्रयोग का परिणाम है, कल्पना की उड़ान नहीं। दुनियाँ में जो कुछ सुबह-शाम, चलते-फिरते, उठते-बैठते देखा जाता है यह वही है। वह नहीं है, जिसके स्वप्न कभी-कभी उच्च भाव-भूमि पर विचरने

वाले इने-गिने मस्तिष्क देखा करते हैं। यह दुनियाँ का रूप है, वह स्वर्ग की परछाँई है।

अब हमें देखना यह चाहिए कि संसार में पैसा लोगों को इस कदर प्रिय क्यों है? क्यों माता बेटे की योग्यता और अयोग्यता की जाँच पैसे के पैमाने से करती है? क्या कारण है कि भाई भाई से अधिक पैसे की पूजा करते हैं? मित्रता पैसे का सहारा क्यों लिये हुए है? स्नेह और संबन्ध सभी पैसे के पीछे ही क्यों बँधे हैं? आज से ही नहीं, पुराने समय से इस पैसे ने पारस्परिक सद्भाव को अपना अनुगामी बना लिया है। भाभी और देवर का संबंध कितने सौहार्द्र का और कितना मधुर है? फिर भी भूषण कवि की भाभी ने पैसे के अभाव में अपने प्यारे देवर का मर्मस्थल व्यंग्यबाणों से वेध दिया। सुदामा की ब्राह्मणी ने पति-पत्नी की प्रेम-सुधा को कितना खट्टा कर दिया था, इसी पैसे के लिए न? यह और बात थी कि सुदामा के भाग्य से उन्हें कृष्ण जैसे मित्र मिल गये, पर माँगने का अपमान तो उन्हें सहन करना ही पड़ा था। ऐसे अनेक सुदामा और भूषण घर घर में पाये जाते हैं। पैसे का अभाव उन्हें सगे से सगों की लाल आँखें दिखलाता है। भूषण और सुदामा तो बेचारे भाग्यशाली थे, जिन्हें शिवाजी और कृष्ण जैसे आश्रय मिल गये थे। पर इन बेचारों का तो कोई सहारा नहीं है। घर की दीवारों में भले ही चिपट के रो लें, यदि बाहर पैर रख देंगे तो प्लेग के चूहे की तरह सब जगह से दुरदुराये जायेंगे। आकाश की छाया के सिवा दूसरी छाया नसीब न होगी, पृथ्वी की गोद के सिवा दूसरी गोद न मिलेगी।

हाँ, तो बात यह है, कि पैसा विनिमय का साधन होने से ही सर्वपूज्य बन बैठा है। ज्यों-ज्यों प्राचीनकाल की ओर जायँ

त्यों-त्यों देखते हैं कि धन की महिमा इतनी अधिक नहीं थी। सभ्यता, प्रतिद्वंद्विता और जनसंख्या के साथ-साथ उसका महत्त्व बढ़ता गया है। आज तो धन ही सर्वेसर्वा बन बैठा है। क्योंकि हम देखते हैं कि धन के द्वारा हमें सुख की प्रत्येक सामग्री अनायास मिल सकती है। बेटे से चाहे सुख न मिले पर धन से मिल सकता है। स्त्री सुख की वृद्धि नहीं भी कर सकती, पर धन तो हर तरह के सुख की उपलब्धि करा सकता है। तब फिर सब लोग धन के पीछे पागल क्यों न हो जायँ ? उसी की आराधना क्यों न करें ?

'सर्वे गुणा काञ्चनमाश्रयन्ति' के अनुसार धन ही सब प्रकार के गुणों का आश्रयदाता है, उसके सामने संसार की समस्त वस्तुएँ किसी गणना में नहीं है, सारे गुण तुच्छ और हेय हैं। इसलिए भाई, दुनियाँ में जन्म लेकर धनोपार्जन किये बिना काम नहीं चलेगा। यदि आदमी संसार की झंझटों को त्याग उदासी बन जाय; दुनियाँ के कारबार मे कोई संबंध ही न रखे, तो और बात है। नहीं तो अपनी मर्यादा की रक्षा के निमित्त, तथा दूसरों की सहायता के लिए एवं अनेक प्रकार की आकस्मिक आपत्तियों से त्राण पाने के लिए धन अर्जन करना ही पड़ेगा। क्योंकि धन के बिना दुनियाँ में आदर नहीं होता। धनहीन विद्वान् की गणना मूर्खों में करने वालों की कमी नहीं है, और न धनवान मूर्खों की विद्वता में कोई सन्देह करने का साहस करता है। धन होने से ही आदर-मान, लाड़-प्यार सब कुछ मिल सकते हैं। निर्धन का कोई साथी नहीं होता, जबकि धनवान के पीछे पीछे सेना चलती है। आपत्ति विपत्ति में निर्धन अकेला होता है, धनवान के सिर के दर्द में सहानुभूति के छींटे लगते रहते हैं। अकिंचन की लाश म्यूनिसिपैलिटी की गाड़ी पर जाती है, उसे कोई देखता भी नहीं; धनवान की

अरथी स्नेही-सम्बन्धियों के जन समुद्र के बीच कंधों पर निकलती है। उसके लिए आँसू बहाने वालों की गिनती नही हो सकती है। दूसरे ही दिन ग़रीब की कच्ची क़ब्र को जंगली घास छिपा लेती है, पर अमीर की क़ब्र की मीनार युगयुगान्तर तक उसकी यादगार क़ायम रखती है। धन में इतने आकर्षण हैं, दरिद्रय में एक भी नहीं।

इन्हीं सब बातों पर विचार करके दूरंदेश धन संग्रह करते हैं। जवानी के स्वर्णयुग में जब शरीर हृष्ट-पुष्ट रहता है, प्रत्येक अवयव में स्फूर्ति भरी रहती है, तो वे अपना एक क्षण भी आलस्य में नहीं खोते। बड़ी तत्परता से काम में लगे रहते हैं। दिन को दिन और रात को रात न समझ कर वे धन पैदा करते हैं। इसी को लक्ष्य करके किसी ने कहा है कि धन पैदा करते समय संसार की असारता का भाव मन से निकाल देना चाहिए यही मानना चाहिए कि हम अमर रहकर अपने कमाये धन का खूब अच्छी तरह उपभोग करेंगे।

धन संग्रह करने के लिए और खासकर उत्तम उपायों से धन-सग्रह करने के लिए थोड़े परिश्रम से काम नहीं चलता। यह सब लोग अच्छी तरह जानते हैं, तो भी प्रायः देखा यह जाता है कि अधिकांश लोग थोड़े परिश्रम से बहुत धन कमाने की फिक्र में रहते हैं। परिश्रम से बचने के लिए वे अनेकानेक चालबाज़ियों और छल-कपट से काम लेते हैं। ऐसे लोग सीधे-सादे भोले-भाले आदमियों को ठग कर अपनी जेब भर लेते हैं और अपने इस घृणित और नीच उपाय को धन पैदा करने की विशेषता में शामिल करते हैं। यह नहीं होना चाहिए। धन सब सुखों को सुलभ कर देता है, यह ज़रूर है, पर इसी लिए तो औचित्य-अनौचित्य का विचार

न करके उसकी प्राप्ति में लग जाना समीचीन नहीं कहा जा सकता। धन हमारे लिए सुख का साधन है तो और सब लोगों के लिए भी है। अपनी सुख-वृद्धि के लिए हमें उपाय करना ठीक है, उसके लिए हम धन एकत्र कर सकते हैं, पर दूसरों को उसी सुख से वंचित करके नहीं। समाज का कर्तव्य है कि ऐसे दुष्कर्मों के द्वारा धन पैदा करने वालों को वह आदर और मान न दे। ऐसा आदमी कभी आदर का पात्र नहीं है। पर बहुत प्राचीन काल से धन और मान को संबद्ध रखने की नीच धारणा चली आ रही है, और यह उत्तरोत्तर बढ़ती चली जाती है। इसका फल बहुत बुरा हो रहा है। लोग धन पैदा करने में कमीने से कमीने उपाय का सहारा लेना बुरा नहीं समझते। वे घृणित से घृणित उपाय से करोड़पति बनने के बाद एक गोशाला एक धर्मशाला और एक अनाथालय खुलवा कर ही दानवीरों की श्रेणी में आ डटते हैं। समाज में इतनी सुबुद्धि होनी चाहिए कि वह इस प्रकार दानवीरता की पदवियाँ बाँटकर बेईमानी का आदर-सत्कार न करे।

इसके अलावा धन-संग्रह करने की एक सीमा भी होनी चाहिए। उसी हद तक धन एकत्र करना ठीक है, जहाँ तक उससे जीवन की उपयोगिता बढ़े। जो जीवन केवल धन को इकट्ठा करने में ही बीते वह अनुकरणीय नहीं। हमारे जीवन-निर्वाह से अधिक धन होने से वह जी का जंजाल हो जायगा। अपने जीवन-निर्वाह से अधिक धन केवल उसी को संग्रह करना चाहिए जो परोपकारी हो। केवल परोपकार के लिए धन पैदा करने की मर्यादा स्थिर नहीं की जा सकती, क्योंकि परोपकारी से धन पैदा करते समय भी कोई ऐसा कार्य होना संभव नहीं जिससे किसी का अकल्याण हो। वह तो उत्तम उपाय से ही धन संग्रह करेगा।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, कि धन के बिना संसारी आदमी का काम नहीं चल सकता। उसे आदर, मान, प्यार-दुलार धन की बदौलत ही मिलते हैं। परोपकार आदि बड़े-बड़े सत्कार्य भी वह बिना धन की सहायता के नहीं कर सकता। इसलिए जीवन में उसे यथाशक्ति धन पैदा करने की कोशिश करनी चाहिए, पर साथ ही उसे निर्वाह भर के लिए ही धन पैदा करना चाहिए, अधिक नहीं। परोपकार आदि सत्कार्यों के लिए वह अधिक भी कर सकता है। धनार्जन में उसे किसी भी दशा में नीच उपायों का अवलंबन नहीं करना चाहिए, क्योंकि मनुष्य मनुष्य है न कि अर्थ-पिशाच। जो धन के संबंध में इस नीति का पालन करेंगे वे सदा सुखी रहेंगे, न तो उन्हें धन के अभाव में स्नेही-संबंधियों का कोपभाजन होना पड़ेगा, न अर्थलोलुपता के दूषण से उनका धवल यश कलंकित होगा।

इतिहास

इतिहास शब्द की व्युत्पत्ति पर ध्यान देने से मालूम होता है वह इस लंबे सृष्टिक्रम में मनुष्य पर बीती हुई बातों का वर्णन करता है। क्या हो चुका है, मनुष्य किन-किन परिस्थितियों से गुज़र चुका है, इन सबका सिलसिलेवार ब्योरा उपस्थित करना इतिहास का काम है। इस दृष्टि से इतिहास के अन्दर भौगोलिक परिस्थिति भी आ जाती है, जिसकी वह अपेक्षा नहीं कर सकता। इतिहास के इस विस्तृत दृष्टिकोण में राजनीति, समाज-शास्त्र, दर्शन, विज्ञान और साहित्य सभी का समावेश हो जाता है। वह सभी से अपनी सामग्री इकट्ठी करता है। इतिहास काल की दूरी को हटाकर प्राचीन से प्राचीन मानवसमाज को हमारे सामने ला देता है। उसकी संस्थाएँ उसकी विद्या, उसका कलाकौशल, उसकी समाज व्यवस्था, उसके धार्मिक संस्कार आदि का ज्ञान हमें इतिहास ही कराता है।

इतना होने पर भी प्राय: लोग कहते सुने जाते हैं कि इतिहास में क्या रक्खा है? गई-गुज़री बातों में माथापच्ची करने की हमें क्या आवश्यकता है? जो मर गये, चले गये; हम तो जीवितों के

संसार में रहते हैं। उन्हीं से हमारा वास्ता है। गड़े मुर्दों को उखाड़ कर हम कौन-सा लाभ उठायँगे ? लेकिन यह सम्मति दो ही प्रकार के लोगों की हो सकती है। एक तो वे जो प्रमादी हों, जिनकी क्रिया-शक्ति क्षीण हो गई हो और जिनसे कुछ करते धरते न बनता हो। दूसरे वे जो बुद्धिमान और कर्तव्यपरायण होते हुए भी इतिहास की ओर से अज्ञान हो। उसकी महत्ता, उसकी विषय-व्यापकता का उन्हें पता न हो। वे सचमुच ही इतिहास को मुर्दों का का उखाड़ना समझते हों। पर ऐसे दोनों प्रकार के लोगों की राय का मूल्य ही कितना हो सकता है ! इससे इतिहास की रचना और उसके पठनपाठन में कोई अन्तर नहीं पड़ सकता।

यहाँ तक तो विरोधियों की बात हुई। अब इतिहास से वास्तविक लाभ क्या होते हैं, उन्हें हम एक-एक करके गिनाते हैं। पहला लाभ जो हमें इतिहास से होता है, वह है हमारी जिज्ञासा-तृप्ति। यह मनुष्य की एक स्वाभाविक मनोवृति है कि वह प्रत्येक विषय का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। ज्ञान प्राप्त करने की धुन में वह हिताहित का ध्यान नहीं करता। यही कारण है कि सूर्य-चन्द्र, ग्रह-उपग्रह के सम्बन्ध में जानकारी हासिल करने के लिए वह उसी प्रकार संलग्न होता है, जिस प्रकार वह अपने किसी अन्तरंग मित्र की कोई रहस्यात्मक बात जानने में प्रयत्नशील होता है। तब पृथ्वी के विभिन्न भागों में बसनेवाली मानव जाति के उद्भव, विकास आदि का ज्ञान प्राप्त करने का वह क्यों प्रयत्न न करे ? वास्तव में यही स्वाभाविक जिज्ञासा का भाव मनुष्य में कर्तृत्वशक्ति का संचार करता है, और आज जो इतनी उन्नति हम देख रहे हैं, उसमें इस का भी बड़ा हाथ है। इतिहास हमारी इसी जिज्ञासा की तृप्ति करता है।

दूसरे, इतिहास नीतिशिक्षा में सहायक होता है। प्रत्यक्ष उदाहरणों द्वारा यह बात हमारे सामने रख देता है कि अमुक परिस्थिति में अमुक महापुरुष ने कैसा आचरण किया था, और उसका क्या फल हुआ। एक ही विषय में सहस्रों लोगों का अनुभव मालूम पड़ जाने पर मनुष्य सहज ही उचित अनुचित का विचार कर सकता है। उसका विचार-क्षेत्र व्यापक हो जाता है। वह पहले से ही अवांछित परिस्थितियों का सामना करने के लिए तैयार हो सकता है।

इतिहास का तीसरा उपयोग है चित्त की शान्ति एवं मन की प्रसन्नता। दुनियाँ में जितने महापुरुष हुए हैं उनका सत्समागम हमें यदि कहीं सुलभ हो सकता है तो इतिहास में। उनकी चरितावली का मनन करने से चित्त शान्त और मन प्रसन्न होता है। प्रायः सभी लोग सत्संग की महिमा का बखान सहस्र-मुख होकर करते हैं। किन्तु दुनियाँ में सच्चा सत्संग कितना कठिन है, इसका भी सबको अनुभव है। वही सत्संग इतिहास के पारायण में हमें अनायास प्राप्त हो जाता है। यह लाभ साधारण लाभ नहीं है। इसी लाभ ने दुनियाँ के महान पुरुषों को महान बनाया था। यदि उन्होंने इतिहास में अन्य महापुरुषों की चरितावली न पढ़ी होती तो उनके सामने, जीवन को उन्नत करने का कोई आदर्श ही कहाँ से आता? शान्त चित्त और प्रफुल्ल मन से वे अपने उद्देश्य में न लग पाते। फल यही होता कि आज हम उनके महिमामय व्यक्तित्व से वंचित रह जाते। वास्तव में यह सच है, कि एक महापुरुष की चरितावली दूसरे महापुरुष को जन्म देती है। दूसरे शब्दों में महापुरुषों का इतिहास ही महापुरुषों को पैदा करता है। इसी से कहा जाता है कि महापुरुष कभी मरते नहीं, वे अमर होते हैं।

क्योंकि इतिहास जातियों, राष्ट्रों और राज्यों की उन्नति और

अवनति का विस्तृत विवेचन होता है, इसलिए उसमें साधारण और असाधारण दोनों प्रकार की घटनाओं का वर्णन रहता है। अतः यदि वह रोचक शैली से लिखा जाय तो केवल मनोरंजन के लिए पढ़नेवाले पाठकों के दिलबहलाव की सामग्री भी हो सकता है, और प्रकारान्तर से उन्हें उपयोगी शिक्षा भी दे सकता है। उत्कृष्ट इतिहासों में यह गुण प्रायः रहता ही है। अतः मनोरंजन इतिहास-पठन का चौथा लाभ है, जिसकी अपेक्षा नहीं की जा सकती। साधारण उपन्यास कहानियाँ केवल मनोरंजन की सामग्री उपस्थित करके रह जाती हैं, लेकिन इतिहास परिणामों की विवेचना में भी तत्पर रहता है। इसलिए वह हलके मनोविनोद के साथ कुछ ठोस-गंभीर तथ्य भी प्रस्तुत करता है, जिससे पाठक का अन्तः-करण नितान्त निःसत्व नहीं होने पाता। इतिहास और उपन्यास के मनोरंजन में साधारणतया यही भेद है, और यह खासा भेद है।

यों तो इतिहास से सब प्रकार की, सब शास्त्रों की थोड़ी बहुत शिक्षा मिलती है, किन्तु राजनीति-शिक्षण का तो मानो यह मुख्य द्वार है। बिना इसमें प्रविष्ट हुए राजनीति विशारद की सी दूरदृष्टि और बहुज्ञता आती ही नहीं। कहा जाता है कि इतिहास अपने आपको दोहराता है, और यह ठीक भी है। यही कारण है कि इतिहास का पाठक बीती घटनाओं से भावी परिणामों को निकाल लेता है, यही राजनीतिज्ञ का सबसे बड़ा गुण है। अतः अब तक पृथ्वी पर जितने राज्य, और जितने राष्ट्र हो गए हैं, उनका अनुभव हमारे लिए बड़े महत्त्व का है। उन्होंने कब और किस अवस्था में उत्कर्ष के दिन देखे थे? कब और किस कारण उनका पतन हुआ? आई हुई विपत्तियों का उन्होंने किस तरह सामना किया? अपने उत्कर्ष के दिनों में उन्होंने प्रजाहित के

कौन कौन से मार्ग ग्रहण किए ? इत्यादि। यदि हमें इस प्रकार का खासा ज्ञान हो तो हम अपनी जाति और अपने राज्य की समस्याओं को सहज ही सुलझा सकते हैं। अतः राजनीतिक शिक्षा इतिहास का पाँचवाँ लाभ है।

इतिहास का एक और उपयोग है और वह यह कि वह हमारी कल्पनाशक्ति को प्रखर करता है तथा मन की वृत्तियों को प्रगल्भ बनाता है। जब हम बीती बात से भावी परिणाम निकालते हैं तो उसमें हमारी कल्पनाशक्ति के साथ ही मन की अन्य वृत्तियों का भी उपयोग होता है। हमारे विचारों में बल आता है। इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक तत्वों का विश्लेषण करते समय हमारी कल्पना, सब जगह घूम फिर कर भी, वास्तविकता की आधार-भूमि से पैर नहीं हटाती; जब कि केवल कल्पनात्मक पुस्तकों के पारायण के बाद हमारी कल्पना निराधार हो जाती है। आकाश-कुसुम की उपलब्धि की कहानी केवल कहानी ही है, असत्य ही है, लेकिन राम और कृष्ण, सीज़र और अशोक के आदर्श, आदर्श होते हुए भी, सत्य हैं—अनुकरणीय हैं। इतिहास की यह विशेषता मनःपुष्टि में विशेष सहायक है।

इस तरह यह बात ज्ञात हो गई कि इतिहास से थोड़े लाभ नहीं होते। इतिहास उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता, बल्कि साहित्य के अन्य अंगों से उसका महत्त्व अधिक ही है। तभी तो किसी ने कहा है कि हम जाति का पराभव स्वीकार कर सकते हैं, लेकिन अपने इतिहास का नष्ट होना नहीं देख सकते, क्योंकि इतिहास तो पुनः जाति को जन्म दे सकता है, लेकिन जाति पुनः इतिहास का निर्माण नहीं कर सकती। भला कौन ऐसा होगा जो इतने पर भी इतिहास को मुर्दों के गीत कहे ?

कुछ व्याख्यात्मक निबंधों के खाके

आगे विद्यार्थियों की सुविधा के लिए कुछ व्याख्यात्मक निबन्धों के खाके दिये जाते हैं, जिनकी सहायता से विद्यार्थी स्वयं निबन्ध लिखने का अच्छा अभ्यास कर सकते हैं

वक्तृता

व्याख्यान देने का प्रभावपूर्ण ढंग। भाषणशक्ति ईश्वरीय देन। अनेक व्यक्तियों में किसी विरले को प्राप्त। प्राचीन काल से इसका प्रभाव। ग्रीस के वक्ता। वक्तृत्वशक्ति के कारण उनका महत्त्व। उन्नत रोम राज्य के वक्ता। भारत के प्राचीन वक्ता। वैदिक-साहित्य में सुरक्षित वक्तृताएँ। गीता के रूप में कृष्ण की अभूतपूर्व वक्तृता।

साफ़-सुथरी और मधुर वाणी। ज़ोरदार भाषा। प्रबोधन चातुरी। शंकाओं का निवारण। पूर्वपक्ष के तर्क, उनकी मीमांसा। उत्तरपक्ष में उनका तर्कसंगत उत्तर। वर्णन-शक्ति की प्रबलता। शरीर-संचालन और हावभाव से श्रोताओं को वश करना।

सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक सुधार आदि अनेक लाभ। लेखक से भी वक्ता का तात्कालिक महत्त्व अधिक। राजा-महाराजाओं तक को हिला देना। जनसमाज की विचारधारा में परिवर्तन। राष्ट्रों में परिवर्तन। प्रसिद्धि और आदर। राज्य-क्रांति, सामाजिक-क्रांति। दुनियाँ के आंदोलनों, क्रांतियों और विप्लवों में वक्तृताओं का हाथ। प्रसिद्ध-प्रसिद्ध देशी-विदेशी वक्ता—पेरीक्लीज़, सिसरो, एडमडबर्क, शेरीडन, गोखले, सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, विपिनचन्द्र पाल, लाला लाजपतराय, विवेकानन्द, चित्तरंजनदास, महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, भूलाभाई देसाई, गोविंदवल्लभ पन्त और मालवीयजी आदि।

अभ्यास से वक्तृत्व-शक्ति की वृद्धि। आरंभिक वक्ताओं को अभ्यास की आवश्यकता। भाषणशक्ति एक दुर्लभ विशेषता है। प्रतिभावान को प्रयत्नपूर्वक इसमें दक्षता प्राप्त करनी चाहिए। वक्ता देश और जाति का गौरव। सुवक्ताओं की महती आवश्यकता।

दान

दूसरे का दुःख-दर्द दूर करने के लिए किया गया रुपये पैसे आदि का त्याग। दया और करुणा के भाव से उत्पन्न। उत्साह एवं साहस द्वारा दान के रूप में परिणत। "सर्वभूतहिते रतः" के स्तुत्य भाव का प्रकाशक। दान करने से आत्मसंतोष और प्रसन्नता। प्रसन्नता ही मनुष्य की सर्वापेक्षा इच्छित वस्तु।। दान की महिमा।

दान देने में पात्रापात्र का विचार। शिक्षा-प्रचार, अनाथों की रक्षा, आदि में दान का सदुपयोग। दान देकर आलसी लोगों की संख्या बढ़ाने में दान का दुरुपयोग। वर्तमान भारत में दान कुप्रथा के रूप में प्रचलित। उसके दुष्परिणाम।

प्राचीन दानवीरों के उदाहरण—शिवि, दधीचि, हरिश्चन्द्र, कर्ण आदि। इन्हीं की कीर्ति देखकर दान की कुप्रथा का जन्म। आज की दान प्रथा और शिवि, दधीचि की दान-प्रणाली की तुलना।

आजकल के दानवीर—राकफेलर, नोबेल बंधु, चित्तरंजनदास, रासबिहारी घोष, विट्ठलभाईपटेल, सर गंगाराम, सरदार दयालसिंह, प्रफुल्लचन्द्रराय आदि।

उपसंहार—दान धर्म का अंग। दान सात्विक होना चाहिये। दान दान-पात्र को ही देना चाहिए। मनुष्य का बड़प्पन दान से ही है।

ऐक्य

आपसी मेल का ऐक्य। ईर्षा-द्वेष, मनोमालिन्य, विरोध, भेदभाव फूट-वैर का त्याग। सद्भाव और प्रीति का प्रसार। एक मत, एक हृदय, एक मन और एक प्राण होकर कार्य करना।

एकता बिना विश्व की किसी वस्तु की स्थिति असंभव। उदाहरणार्थ अंग-प्रत्यंगों की एकता शरीर। ईंट, लकड़ी, चूना, मिट्टी की एकता इमारत। पंचभूतों की एकता विश्व। धागों की एकता वस्त्र। तृणों की एकता रस्सा। तख्तों की एकता पुल। अक्षरों, शब्दों और विचारों की एकता बड़े-बड़े ग्रन्थ। व्यक्तियों की एकता समाज, जाति और राष्ट्र। बड़े से बड़ा राष्ट्र एकता बिना छिन्न-भिन्न। भारतवर्ष में पारस्परिक विद्वेष का फल। फूट का अनुयायी परिवार। कुरुकुल की कलह का परिणाम। हमारी वर्तमान पराधीनता का मूल कारण हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष।

एकता से बल की प्राप्ति। दृढ़ता की प्राप्ति। ऐक्य के अनुयायियों में पारस्परिक सहानुभूति का भाव। स्वार्थत्याग की भावना का उदय। उद्दंडता और स्वेच्छाचार का त्याग। ऐक्य से सुन्दरता, शोभा और महानता की प्राप्ति। तारागणों से आकाश की सुन्दरता। शाखाओं के मेल से वृक्ष की शोभा। बूँद-बूँद के मेल से जलाशय की महानता।

एकता द्वारा कठिन से कठिन कार्यों की सिद्धि। दृश्यमान बड़े-बड़े पदार्थों का कारण एकता। अपना और पराया कल्याण चाहने वालों को एकता का भक्त होना चाहिए।

स्वदेशाभिमान

अच्छी बुरी जैसी भी हो अपनी मातृभूमि को गर्व की वस्तु समझना स्वदेशाभिमान। साहचर्य तथा परिचय से उत्पन्न और पुष्ट। अपने देश का अभिमान सभ्य असभ्य सबको एक सा।

स्वदेशाभिमान होने से स्वार्थपरता का नाश। देश की उन्नति अपनी उन्नति, देश की यन्त्रणा अपनी यन्त्रणा समझने का व्यापक भाव। देश-निर्वासन, इसलिए, कठिन दंड माना जाता है। देश से बाहर आते समय या प्रवास में देशाभिमान के भाव प्रबल। देश की उन्नति और

उसके उत्कर्ष का मूल स्वदेशाभिमान। देश की दुर्दशा के समय स्वदेशाभिमानी क्या करेगा ?

स्वदेशाभिमानी प्रसिद्ध-प्रसिद्ध पुरुष : यूनान का लियोनिडास, थर्मापली के युद्ध में स्वदेशाभिमान का प्रदर्शन। स्वदेशाभिमानी नेल्सन। स्वदेशाभिमानी महाराणा प्रताप। स्वदेशाभिमान की मूर्ति लोकमान्य तिलक और गोखले। वर्तमान भारतीय नेताओं और देवियों का स्वदेशाभिमान।

देश की अच्छाई-बुराई दोनों को अभिमान की वस्तु मानना अनुचित। बुराई को दूर करके सचमुच देश को अभिमान का कारण बनाना, राजा भगीरथ या बुद्ध की तरह। जिस देश में सच्चे स्वदेशाभिमानी हों उसका सौभाग्य।

अमिताचरण

इन्द्रियसुख की लालसा से किसी काम में अति करना। अविचार का ही फल अमिताचार। अमिताचार के विषय में नीतिवाक्य, "अति सर्वत्र वर्जयेत्" आदि।

अमिताचार के दुष्परिणाम। दोष-समूह की उत्पत्ति। क्षणिक आनन्द का कारण अमिताचरण। अमिताचारी में व्यग्रता की अधिकता। मन की चंचलता। नीति और शास्त्रों की अवहेलना। फलतः धन-वैभव, आदर-मान, शक्ति-सामर्थ्य का नाश। निन्दा और अपकीर्ति का लाभ। अमिताचरण और स्वास्थ्य। अनैसर्गिक आहार-विहार ही अमिताचार।

अमिताचरण का देश, जाति और परिवार पर प्रभाव। अमिताचारियों के दृष्टान्त।

अमिताचरण से बचने के उपाय। बाल्यावस्था से ही मिताचरण की शिक्षा।

सहानुभूति

दूसरों के दुःख को दुःख और सुख को सुख समझना। वैर-विरोध और स्वार्थ के त्याग से ही इसकी उपलब्धि संभव। जीव-मात्र सहानुभूति के अधिकारी।

दुख-सुखमय संसार में सहानुभूति की आवश्यकता और उपयोगिता। सहानुभूति से ही दान, धर्म आदि महान पुण्यकृत्यों का आरंभ। त्याग और सद्भावना की जननी सहानुभूति। सहानुभूति ईश्वरी-सृष्टि के प्रति प्रेम। सहानुभूति की भावना मनुष्य के दृष्टिकोण को व्यापक कर देती है। सहानुभूति द्वारा बड़े बड़े काम होते हैं। सहानुभूति बिना जीवन नीरस। सहानुभूति एक जीवन-जड़ी है। व्यावहारिक जीवन में कभी कभी झूठी सहानुभूति का प्रदर्शन होता है। समाज में प्रथा के रूप में सहानुभूति का ग्रहण। क्या पशु-पक्षियों में भी सहानुभूति का भाव देखा जाता है?

सहानुभूति मनुष्यत्व का प्रधान लक्षण। प्रत्येक को सहानुभूति का आचरण करना चाहिए।

स्वच्छता

गन्दगी से दूर रहना स्वच्छता। अपने स्वाभाविक निर्मल रूप को मलिन न होने देना। प्रत्येक व्यापार में स्वच्छता का ध्यान।

स्वच्छता के मुख्य दो भेद—बाह्य स्वच्छता और आन्तरिक स्वच्छता। बाह्य स्वच्छता में शारीरिक स्वच्छता और व्यावहारिक स्वच्छता का समावेश। आन्तरिक स्वच्छता में मानसिक स्वच्छता और सामाजिक स्वच्छता की गणना। अंग-प्रत्यंग की निर्मलता, शुद्धता और सफाई, शारीरिक स्वच्छता। खाने-पीने, पहनने, रहने में स्वच्छता का ध्यान,

व्यावहारिक स्वच्छता। ईर्षा-द्वेष, मद-मत्सर, काम-क्रोध आदि दुर्भावनाओं का त्याग तथा सौहार्द्र-प्रेम, श्रद्धा-भक्ति आदि निर्मल विचारों का चिन्तन, मानसिक स्वच्छता। सत्संग की खोज और सत्संग का आचरण सामाजिक स्वच्छता।

स्वच्छता और शारीरिक स्वास्थ्य। स्वच्छता और मानसिक स्वास्थ्य। जातियों और राष्ट्रों की उन्नति का कारण स्वच्छता।

प्राचीन भारतवासियों में स्वच्छता का स्थान। वर्तमान भारतीय जनसमाज और स्वच्छता। उसका फलाफल।

वाह्य स्वच्छता ही केवल स्वच्छता नहीं। वाह्य स्वच्छता की ओर सतर्कता। आन्तरिक स्वच्छता के प्रति उदासीनता। परिणाम। दोनों प्रकार की स्वच्छता की आवश्यकता।

श्रम

कार्यपूर्ति के लिए यत्नवान होना श्रम। श्रम से सब कुछ साध्य। दुनियाँ के वर्तमान रूप में श्रम का हाथ।

शारीरिक श्रम। मानसिक श्रम। शरीर और मन के विकास का उपाय श्रम। श्रम से स्वास्थ्य की प्राप्ति। सुख और आनंद की प्राप्ति। श्रम की पवित्रता। श्रम का मूल्य। श्रम से प्रत्येक वस्तु का सरस, सुन्दर हो जाना। मानसिक श्रम की बहुमूल्यता।

श्रम बिना जीवन नीरस। बिना श्रम के धन-धान्य, भोजन-वस्त्र की कमी।

श्रमशील जातियाँ। श्रमशीलता से उनके उत्कर्ष का संबंध। प्रसिद्ध परिश्रमी व्यक्ति। श्रम करना अपमान का कारण नहीं वरन् गौरव का कारण।

जातियों के पतन का कारण श्रम का अनादर। भारत के नवयुवक और श्रम। कर्मवीर भारत आज भाग्यवादी। परिणाम। श्रमशीलता ही उद्धार का एक मात्र उपाय।

आरोग्यता

शारीरिक और मानसिक अस्वस्थता से बचना। अंगप्रत्यंग को काम में लगाये रखना आरोग्यता का उपाय।

रोगी-जीवन निष्फल। रोगी जीवन एक बोझा ढोने के समान। किसी कार्य में आनन्द न मालूम पड़ना। संसार का प्रत्येक व्यापार यन्त्रणामय। स्वस्थ जीवन के अनेक लाभ। चित्त की प्रसन्नता। जीवन यात्रा सुखमय। दान, धर्म, परोपकार आदि के द्वारा इहलोक और पारलोक का सुधार। नीरोग मनुष्य का मन कामों में रस पाता है। दीर्घजीवन।

संयत आहार-विहार से आरोग्यता की उपलब्धि। अन्य साधन—व्यायाम, वायुसेवन, विश्राम, परिश्रम, नियमानुसार जीवन बनाना आदि। चिन्ता, क्रोध आदि का त्याग।

उपसंहार—तन्दुरुस्ती हज़ार नियामत (Health is wealth) सबसे पहले आरोग्यता-लाभ करना उचित। सबको उसके लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।

विचारशीलता

प्रत्येक कार्य और व्यापार के परिणाम का चिन्तन करने की प्रवृत्ति। विचारशीलता सत्य को उपलब्धि का एक-मात्र साधन। अनुचित-उचित का विवेक विचारशीलता से होता है।

विचारशीलता बहुत कम लोगों में पाई जाती है। विचारशीलता महान बनने के लिए आवश्यक। दुनियाँ के प्रायः सभी महापुरुष विचारशील। सांसारिक सफलता इसीसे संभव, अविचारी सदा विफल रहते हैं।

विचारशीलता प्राकृतिक विशेषता है। अभ्यास और चिन्तन इसे परिष्कृत कर सकते हैं। गंभीर, सूक्ष्म, दार्शनिक, वैज्ञानिक, नैतिक और आचारिक विषयों की मीमांसा के लिए विचारशीलता ही एकमात्र सहायक। सभी के जीवन में ऐसे जटिल अवसर आते हैं जब इसके बिना काम नहीं चलता। किसी किसी जाति या समाज में यह गुण विशेष रूप से पाया जाता है।

उपसंहार—सबको विचारशील बनाना चाहिए।

अहिंसा

किसी को किसी प्रकार से दुख न पहुँचना अहिंसा। अहिंसा से श्रेष्ठ कोई आचार नहीं "अहिंसा परमो धर्मः" सच्चा अहिंसक ही महात्मा और वीर बनता है। अहिंसा का अर्थ न समझ कर उसका अनुचित उपयोग करने वाला कायर, भीरु और नीच हो जाता है। प्राचीन भारत में अहिंसा का उचित उपयोग होता था।

अहिंसा और मर्दानगी विरोधी नहीं। अहिंसा में शत्रु के प्रति भी दुर्भावना नहीं। अहिंसा में निर्भयता और सत्य का समावेश। अहिंसा कायरता का चिह्न नहीं है। जातीय-हितों की रक्षा में अहिंसा का स्थान। भारत के अधःपतन का कारण अहिंसा नहीं। अहिंसाधर्म के आचरण से विश्वविजय संभव। अहिंसात्मक स्वतन्त्रता संग्राम।

अहिंसक महावीर, बुद्ध, टाल्स्टाय। अहिंसा के अवतार गांधी। क्या ये सब वीर शिरोमणि और परम योद्धा नहीं?

अहिंसाधर्म का पालन परमोपयोगी। देश में अहिंसा-धर्म का प्रचार होना चाहिए तभी भारत का अभ्युदय होगा।

अभ्यास के लिए विषय

(१) क्षमा। (२) दया। (३) शान्ति। (४) लोभ। (५) प्रीति। (६) सुख। (७) आशा। (८) सदाचार। (९) देशभक्ति। (१०) अध्यवसाय। (११) मैत्री। (१२) शत्रुता। (१३) गर्व। (१४) कर्तव्य। (१५) शिक्षा। (१६) विरक्ति। (१७) ईर्ष्या। (१८) अकर्मण्यता। (१९) उत्साह। (२०) साहस। (२१) शोक। (२२) उल्लास। (२३) विश्वास। (२४) ब्रह्मचर्य। (२५) दृढ़संकल्प। (२६) सद्भाव। (२७) सहानुभूति। (२८) सत्संग। (२९) नम्रता। (३०) विलास। (३१) सौहार्द्र। (३२) सभ्यता। (३३) स्वच्छता। (३४) दरिद्रता। (३५) व्यायाम। (३६) निष्ठुरता। (३७) उदारता। (३८) मातृभक्ति। (३९) स्वाधीनता। (४०) सावधानता। (४१) अहंकार (४२) सौजन्य। (४३) कुटिलता। (४४) वाचालता। (४५) संशय। (४६) बदला। (४७) ईश्वर-भक्ति। (४८) दूरदृष्टि। (४९) सूक्ष्मदर्शिता। (५०) शालीनता।

तार्किक निबन्ध

पश्चिमी यंत्रों की उन्नति और उसका भारत पर प्रभाव

वैज्ञानिक यन्त्रों के आविष्कार दो भागों में बांटे जा सकते हैं। एक वे जिन्होंने संसार के प्रत्येक देश का भला किया है, या नहीं तो कम से कम इनमें भला कर सकने के गुण अधिक हैं, यद्यपि मनुष्य ने स्वार्थ-वश उन्हें जघन्य तरीकों से इस्तेमाल करके कभी कभी उनसे दूसरों का अहित कर डाला है। ऐसे आविष्कारों में छापे की कल, टेलीफोन, रेल, मोटर और हवाई जहाज़ आ सकते हैं। ये प्रत्यक्ष रूप से सबके लिए समान लाभकारी हैं। इनसे आवागमन, समाचार-प्रेषण और ज्ञानार्जन की अधिक से अधिक सुविधा हो गई है। पर हवाईजहाज़ों को युद्ध में इस्तेमाल करके, रेल और मोटर को किसी देश की संपत्ति ढोने में लगाकर, प्रेस, तार और टेलीफोन को झूठी-सच्ची और अश्लील बातों के प्रचार में प्रयुक्त करके, उनका कितना दुरुपयोग किया गया है? यह दुनियाँ से छिपा नहीं है। यह तो वैसी ही बात हुई है कि परमात्मा ने हमें मुँह तो खाने पीने के लिए दिया है और हम गालियों की वर्षा करने में उसे काम में लाने लगे। इसमें हमारा अपना दोष है, मुँह का नहीं। इसी तरह इन नवीन यंत्रों का दोष नहीं, दोष है, स्वार्थी व्यक्तियों और जातियों का। इसलिए इन आविष्कारों का भी अधिक से अधिक लाभ उन्हीं देशों को हुआ है, जो बढ़ते हुए

वैज्ञानिक उन्नति के युग में शक्ति-संग्रह कर चुके थे, जिन्होंने दुनियाँ के अशक्त देशों को अपने लोहे के पंजे में दबा लिया था। दूसरी ओर भारत जैसे पराधीन और अशक्त देशों को विज्ञान की इस विभूति से लाभ तो थोड़ा पर हानि अधिक हुई है। आज भारत की दरिद्रता और अशक्तता अत्यंत शोचनीय अवस्था तक बढ़ गई है, इसका मुख्य कारण ये आविष्कार ही हैं।

दूसरी तरह के यन्त्रों में वे विकसित और परिपूर्ण मशीनें आ सकती हैं जो या तो प्रत्यक्षरूप से युद्ध के लिए ही बनाई गई हैं या जो अप्रत्यक्ष रूप से दूसरे देशों की धन-संपत्ति का, अधिक से अधिक मात्रा में, अपहरण करने के उद्देश्य से खड़ी हुई हैं। पहले प्रकार में जंगी जहाज़, तोपें, मशीनगनें, राइफलें, पनडुब्बियाँ आदि हैं। दूसरे प्रकार में कपड़ा बुनने की मशीनें, रुई और ऊन कातने की मशीनें, तेल पेरने की मशीनें, शक्कर तैयार करने की मशीनें तथा अन्य अनेक प्रकार की फैशन की तथा उपयोगी सामग्री तैयार करने की मशीनें आ सकती हैं। ये दूसरी कोटि की मशीनें देखने में बड़ी सुहावनी लगती हैं। जब हम सुनते हैं कि बिना आदमियों की मदद के एक मशीन एक-एक दिन में हज़ारों थान तैयार करती है, तो हमें मनुष्य की बुद्धि पर गर्व भी होता है और खुशी भी होती है। पर वास्तव में इन यंत्रों ने दुनियाँ में बड़ी विषमता पैदा कर दी है। इन्होंने धनवान राष्ट्रों और धनवान व्यक्तियों को तो और भी धनी बना दिया है, पर असंपन्न और गरीब तथा पराधीन राष्ट्रों और व्यक्तियों को अकिंचन और असहाय कर दिया है। एक तरफ इन्होंने कुबेर का वैभव इकट्ठा कर दिया है, तो दूसरी तरफ आदमियों को पशुओं से भी बदतर दशा को पहुँचा दिया है।

जिन देशों के पास शक्ति है, मशीनें जिनकी सहायक हैं, वे थोड़े

से थोड़े समय में अधिक से अधिक माल तैयार कर लेते हैं। उन्होंने जीवन की ज़रूरियात की तमाम चीज़ें बनानी आरंभ कर दी हैं। दुनियाँ के बाज़ार को इने-गिने देशों ने काबू में कर रखा है। अधिक से अधिक परिमाण में तैयार की हुई इन चीज़ों को बेचने के लिए ऐसे देशों को उचित अनुचित दोनों तरह की नीति व्यवहार में लानी पड़ती है। अपने अधीनस्थ देशों के सिर पर तो ये ज़बरदस्ती अपना माल लाद देते हैं। इसका सबसे बड़ा उदाहरण हमारा अपना ही देश है। लंकाशायर और मानचेस्टर का कपड़ा उसे खरीदना ही पड़ता है। अफ्रीका का कोयला लेने के लिए वह बाध्य है। इंगलैंड की मशीनों को संचालित रखने के लिए गंगा और सिंध के मैदानों की सारी उपज रेलों और अन्य साधनों द्वारा कलकत्ता और कराची पहुँचा दी जाती है। भारत को अपना कच्चा माल अपने यहीं खपाने का मौका नहीं दिया जाता। इन यंत्रों की नाशक उन्नति ने भारत के कलाकौशल को चौपट कर डाला है। देश में बेकारी का प्रश्न भीषण रूप धारण कर रहा है। स्कूलों से निकले हुए विद्यार्थी जीविका के अभाव में आत्महत्या करते हुए पाये जाते हैं। सब कुछ पैदा करते हुए भी हमारे किसान भूखे हैं। हमारे पंजाब, बरार और खानदेश की कपास इंगलैंड आदि में ओटी, काती और बुनी जाती है। हमारे काश्मीर और मारवाड़ की ऊन सस्ते दामों पर लिवरपूल में नीलाम पर चढ़ा दी जाती है। हमारे किसानों के पसीने से पैदा किये हुए तेलहन विदेशों की मशीनों में पेरे जाते हैं। ढाका की मलमल का युग अब चला गया है। अब बेकारी का युग भारत में अपना तांडव दिखा रहा है। नौकरी, जिसे हमारे यहाँ सब से नीचा दरजा दिया गया था, आज सबकी आशा का आधार बन रही है। आज वह समय आ गया

है जब सरकारी नौकरियों के बँटवारे का प्रश्न भिन्न-भिन्न जातियाँ उपस्थित कर रही हैं। विदेशी सरकार नौकरियों के टुकड़े कुत्तों के दल में फेंक कर अपने शासन की सुविधा निकाल रही है, पर किसी को भूल नहीं जाना चाहिए कि यह अवस्था मशीनों के कारण पैदा हुई है। भारत दुर्भाग्य से पराधीन है, इसलिए यहाँ सर्वत्र दर्दनाक दृश्य है। दूसरे स्वाधीन और सशक्त देश भारत से अच्छे अवश्य हैं, पर वहाँ भी धन-वितरण की विषमता इस मशीनयुग ने पैदा कर दी है। सब बड़े-बड़े नगरों में अमीरों के इने-गिने विलास-भवनों के गंदे नाले में बाकी संसार बसता है। इसलिए अन्यान्य देशों में भी इस विषमता को बड़ी तीव्रता से अनुभव किया जा रहा है। आन्दोलन हो रहे हैं, और कहीं-कहीं वर्तमान राज्य-व्यवस्था तक को बदलने की नौबत आ पहुँची है।

भारत के ऊपर यन्त्रों की उन्नति का जैसा घातक प्रभाव पड़ा है, वह सभी अपनी आँखों से देख रहे हैं। बेकारी, दरिद्रता और असंतोष तो इसके स्वाभाविक परिणाम हैं, पर कभी-कभी विदेशी सरकार इन्हीं को सामने खड़ा करके भारतवासियों को डरा देती है, कि यदि अंग्रेज़ जैसी कुशल और परोपकारिणी जाति के अधीनस्थ रहकर भारत अपनी दरिद्रता और बेकारी को नहीं खो पाया तो स्वतंत्र होकर, या यों कहें निस्सहाय होकर, वह कैसे उनसे त्राण पा सकेगा? महात्मा गांधी ने लंदन में राउंडटेबल कान्फ्रेन्स में इसका समाधान बड़े अच्छे ढंग से किया था। उनका आशय इस प्रकार था—बेकारी के भूत से हमें न डराइए। इसे हम एक साल में भगा सकते हैं, बशर्ते हमें अपनी सारी पैदावार को स्वेच्छानुसार काम में लाने की स्वच्छन्दता मिल जाय।

सचमुच भारत की वसुन्धरा रत्नगर्भा है। उसमें एक साल म

जितनी उपज होती है वह उसकी सारी आवश्यकताओं को कई साल तक पूरा कर सकती है। गरीबी और बेकारी का प्रश्न तो उन देशों के लिए है जहाँ पृथ्वी से कोई फल प्राप्त नहीं होता, जहाँ कच्चे माल की कमी है। भारत के सामने रोटी का सवाल इसी मशीनों के युग का लाया हुआ है। एक हज़ार साल के लगभग मुसलमानों का भारत पर राज्य रहा। इस युग में अनेक बार भारत लूटा-खसोटा गया। भारत की संपत्ति से अफगानिस्तान, अरब और फारस की शोभा बढ़ाई गई, पर तब भी भारत गरीब न हुआ। ईस्ट इंडिया कंपनी के आरंभिक दिनों में भी भारत की संपन्नता विदेशियों की आँखों में चकाचौंध उत्पन्न करती थी, क्योंकि उसके कला-कौशल सजीव थे। भारत की तमाम पैदावार, उसका सारा कच्चा माल, देशी कारीगरों के हाथों के नीचे से गुज़रता था। खेतों से सीधा वह जहाज़ों पर नहीं पहुँचा दिया जाता था। इसलिए तब लोग लूट-खसोट की हानि को हानि न समझते थे। बल्कि भारत की दस्तकारी इतनी उन्नत और इतनी व्यापक थी कि यूरोप की मशीनें उसकी समानता नहीं कर पाती थीं। तभी पैरिस और लंदन के बाज़ारों में ढाका की मलमल और मुर्शिदाबाद का रेशम आदर के साथ बिकता था। जिस दरिद्रता का अनुभव एक हज़ार साल की पराधीनता के उपरान्त भी नहीं हुआ था, उस दरिद्रता का अनुभव अंग्रेज़ों के इस छोटे से शासनकाल ने करा दिया है; इस समस्या को समझने के लिए इतिहास के उन पन्नों को पढ़ना चाहिए, जिनमें भारत के कला-कौशल के नाश की कहानी लिखी है। मशीनों का वर्तमान विकसित रूप भारत के असंख्य नर-नारियों की आजीविका को हरण करने से प्राप्त हुआ है, इसमें रत्ती भर संशय नहीं है।

पाई का लेखा रुपये की भूल

मनुष्य समाज में ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं, जो पद-पद पर जीवन में उपर्युक्त कहावत चरितार्थ करते हैं। उनकी दृष्टि ही क्षुद्रता की ओर सतर्क रहती है। महत्ता को देखने में उनके चर्मचक्षु अकृतकार्य रहते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि मानव-जीवन किसी महान उद्देश्य के लिए है। वह यदि छोटे-छोटे कार्यों का लेखा तैयार करने में अपने अमूल्य समय और अपूर्व शक्ति का अपव्यय करेगा तो उससे महान कार्यों में त्रुटि होना अनिवार्य होगा। पाई का लेखा करते-करते वह रुपये की भूल कर बैठेगा। इसीलिए विद्वानों का कहना है कि छोटी-छोटी बातों की चिन्ता में अपने मस्तिष्क को मत खपाओ। उन्हें जीवन की पगडंडियों में रेलपेल करने के लिए छोड़कर तुम राजमार्ग का अनुसरण करते चलो। उनकी जटिलता में उलझ जाने पर फिर कहीं के न रहोगे। इस छोटे जीवन में इतना समय और सुयोग ही कहाँ है कि तुम फूंक-फूंक कर पैर रखते हुए निकल जाओगे ? छोटी से छोटी बात के विषय में सतर्क रह सकोगे ?

अपने पवित्रतम सर्वस्व को उत्सर्ग कर देने के महिमामय भाव की ओर से विरत हो कर, लोग वैदिक कर्मकांड की जटिलता के समय. यज्ञों में पशुबलि की ओर स्वभावतः प्रवृत्त हो गये थे। हिंसा की धूम मच गई थी। उसी को लोगों ने धर्म मान लिया था। क्या यह रुपये की भूल न थी। अन्त में प्रतिक्रिया होकर हिंसा के स्थान पर अहिंसा का प्रस्थापना हुई। फल स्वरूप यहाँ तक प्रयत्न किया जाने लगा कि श्वास लेते समय जो वायु अन्दर

आती है उसमें असंख्य क्षुद्रकाय जीव होते हैं, पेट में पहुँच कर उनकी हत्या हो जाती है। इसीलिए उनकी रक्षा की जाय।

जहाँ इस प्रकार की सूक्ष्म विचार-प्रणाली को व्यावहारिक जीवन में स्थान मिलने लगा, वहाँ समझ लेना चाहिए कि मनुष्य अपने महान उद्देश्य से पथभ्रष्ट हो कर जटिलता के बन्धन में अपने आप को कस रहा है। क्षुद्रता के अंश-अंश का हिसाब रखकर भला किसी ने कोई महान काम किया है? माली यदि व्यर्थ के झाड़-झंखाड़ों और घास-फूस को उपेक्षापूर्वक उखाड़-उखाड़ कर फेंकता न जाय तो उपवन के सौंदर्य का अपूर्व दर्शन हमें कैसे हो? घास-फूस का लेखा रखने से माली का महान उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सकता। यदि कोई उसे निर्दयता के दोष से कलंकित करे तो यह अनुचित होगा। घास-फूस और झाड़-झंखाड़ों के प्रति उसकी थोड़ी सी निर्दयता उसके कार्य की महत्ता को देखते हुए अवश्य क्षम्य है।

इस प्रकार हम इस निर्णय पर पहुँच जाते हैं कि कार्य जितना ही महान हो, उसके प्रति हमें उतना ही अधिक ध्यान देना चाहिए और उसकी पूर्ति में उतनी ही तत्परता से प्रयत्नशील होना चाहिए। उसकी प्राप्ति में यदि कई क्षुद्र महत्त्व वाले कार्यों की अपेक्षा भी करनी पड़े तो अनुचित नहीं। यदि हम इसके विपरीत करेंगे तो या तो हमारी दृष्टि में दोष है कि हम उस कार्य के वास्तविक महत्त्व का अन्दाज़ नहीं लगा सकते, क्षुद्र वस्तुओं को महान और महान वस्तुओं को क्षुद्रतम देखने का हमें अभ्यास पड़ गया है, अथवा हम रुपये की परवाह नहीं करते, हमारा सारा धन तो पाई के लेखे पर है।

अब एक साधारण उदाहरण देकर हम अपने कथन को और भी स्पष्ट करना चाहते हैं। एक सज्जन ने, जो इसी श्रेणी के थे,

सौ-डेढ़ सौ रुपया खर्च करना उचित न समझा, इसलिए अपने मुकदमे के सबूत के कुछ ज़रूरी काग़ज़ात तलब नहीं कराए। जिस के कारण वे अपना कई हज़ार का मुक़दमा हार गए। बाद को उसी मुक़दमे के लिए उन्होंने ऊँची अदालत में पाँच-छः सौ रुपये खर्च किए। अब देखिए यदि वे उनमें से केवल सौ-डेढ़ सौ रुपये पहले ही खर्च कर देते, तो मुकदमा भी जीत लेते और उनका खर्च बच जाता। लेकिन ऐसा वे क्यों करते? उनका ध्यान तो पाई के हिसाब की तरफ था।

बहुत से लोग ऐसे देखने में आते हैं जो बाज़ार में सौदा खरीदने के समय आने-दो आने के फायदे के लिए सारी दुकाने छान डालते हैं। उन्हें यह ध्यान भी नहीं आता कि वे अपना जो समय खो रहे हैं उसकी कीमत उस लाभ से कहीं अधिक है, जिसके लिए ये इतना परिश्रम कर रहे हैं। यदि वे उसी समय को किसी उपयोगी कार्य में लगाते तो निश्चय ही आने दो आने से कहीं अधिक का फायदा कर लेते। ऐसे ही लोगों के लिए किसी का उपदेश है कि कि "दुअन्नी को अपनी आँख के इतने पास मत ले जाओ कि उसकी ओट में का रुपया भी तुम्हें दिखाई न पड़े।" अर्थात् जहाँ दो आने खर्च करने से एक रुपये का लाभ होता हो वहाँ दो आने का मुँह मत देखो।

सफल दुकानदार इस प्रकार के मनोविज्ञान से खूब परिचित होते हैं। वे चार पैसों के पान या इलायची आदि से ग्राहक की खातिर करके उसे सदा के लिए अपना चेला बना लेते हैं। फिर बराबर उससे लाभ उठाते हैं। यदि वे पहले कुछ छींटा खाना पसन्द न करते तो वे ग्राहक का मन अपनी ओर कैसे आकर्षित कर पाते? कैसे उनको उससे आगे चल कर लाभ होता।

कहने का प्रयोजन इतना ही है कि जीवन के किसी भी क्षेत्र में सफलता संपादन करने के लिए पाई के लेखे पर ध्यान न देना ही ठीक होगा। यदि हम पाई के लेखे का विचार अपने मस्तिष्क से निकाल नहीं देंगे तो निश्चय ही रुपये की भूल कर बैठेंगे—अर्थात् हम कभी अपने कार्य में सफल नहीं होंगे। उपन्यासकार जो उपन्यास लिखने बैठता है, वह भी हरएक बात यथावत् नहीं लिखता। बहुत सी बातें भुलाकर केवल उन्हीं का वह ज़िक्र करता है, जो उसके उद्देश्य को प्रभावशाली बनाने वाली हैं। यदि वह ऐसा न करे तो उसका उपन्यास भानुमती का पिटारा बन जाय। उससे आनंद उठाने के बदले पाठक उसके इन्द्रजाल में भटकता ही रह जाय।

भला, हमारी आँखें क्या केवल उन्हीं पदार्थों को देखती हैं कि जिनका हमें ज्ञान होता है? कदापि नहीं। हम चलते-चलते असंख्य वस्तुएँ देखते जाते हैं, पर हमारे ध्यान में केवल कुछ ही रह जाती हैं। ये कुछ वे ही होती हैं जो विशेष प्रयोजनीय होती हैं। अप्रयोजनीय वस्तुओं पर दृष्टिपात करके भी हमारी आँखें उनको ध्यान में नहीं लातीं। कान भी अप्रयोजनीय और बिना महत्त्व की छोटी-छोटी बातों को इधर से सुनते और उधर से निकाल देते हैं, पर महत्त्व की बात को जीवन पर्यन्त नहीं भूलते।

ऐसी हालत में यदि हम पाई का लेखा रखने और रुपये की भूल करने की कहावत अपने जीवन में चरितार्थ करेंगे तो अवश्य ही हमारा आचरण अनैसर्गिक होगा। वह हमारी सफलता में बाधक होगा। हम कभी उन्नति और विजय की महानता अपने जीवन में अनुभव न कर सकेंगे।

———

जहाँ चाह वहाँ राह

मेरे एक दोस्त हैं। उनसे जब पूछिये—कि कल वचन देकर भी क्यों नहीं आये, तो तुरन्त उत्तर देंगे, "समय नहीं मिला।" उनके उत्तर से ऐसा मालूम पड़ता है कि वे सदा आवश्यक कामों में लगे रहते हैं। बेचारों को फ़ुरसत नहीं मिलती। बात भी ऐसी ही है। वे झूठ भी नहीं बोलते। कुछ न कुछ काम आ ही जाता है। उसमें बेचारों को लग जाना पड़ता है और अपने वादे को पूरा करने का मौका नहीं पाते। मैं भी उनकी बात सुनकर विशेष बुरा नहीं मानता, क्योंकि मेरा अपना बर्ताव भी दूसरों के समीप कभी-कभी ऐसा ही हो पड़ता है। यही क्यों, अगर सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण किया जाय तो देखने में आता है कि अपने आस-पास व्यावहारिक जगत में, प्रायः इसी तरह का वातावरण है। कहीं कोई कार्य अधूरा पड़ा है; कहीं किसी वादे की पूर्ति नहीं हो पाई, कहीं कोई आश्वासन लापरवाही में पड़ा सड़ रहा है। इसके प्रतिकूल कहीं काम बड़ी तत्परता से हो रहा है, ज़रा भी किसी को शिकायत का अवसर नहीं मिलता।

प्रायः सभी को अनुभव होगा कि कभी-कभी रेल के डिब्बे में चढ़ते समय हमें अपने मुसाफिर भाइयों की झिड़कियाँ और धक्के खाने पड़ते हैं। हम नीचे से ज़ोर लगाते हैं, वे ऊपर से ठेलते जाते

हैं और साथ ही गला फाड़-फाड़कर कहते हैं—"डिब्बा भरा है। बिलकुल जगह नहीं है। आगे डिब्बे खाली पड़े हैं। वहाँ क्यों नहीं जाते ? क्या सबको कुचल डालोगे ? अरे, भाई रहम करो। थोड़ा आगे बढ़ जाओ न।" पर जब हम ज़ोर लगाकर भीतर पहुँच जाते हैं, तो लिखा हुआ देखते हैं—"सत्रह मुसाफिर"; इधर जब बैठे, लेटे और सोते हुए अपने भाइयों पर नज़र डालते हैं, तो अपने को मिलाकर कुल बारह मुसाफिर पाते हैं। उस समय अवर्णनीय दुःख होता है। इसके विपरीत कभी सत्रह की जगह सत्ताईस मुसाफिर भरे होने पर भी सहृदय भाई रेल छूटते-छूटते अट्ठाईसवें को खींच लेते हैं और उसे अपने सिर-आँखों पर बिठाते हैं।

इस प्रकार दोनों पक्षों का अनुभव प्राप्त करने के उपरान्त यही कहना पड़ता है, जहाँ चाह होती है वहीं राह निकल आती है। जहाँ इच्छा नहीं होती वहाँ लाख कोशिश करने पर भी राह नहीं निकलती। किसी ने ठीक कहा है कि "दिल में जगह चाहिए, तो घर में जगह बहुतेरी है।" रामायण की कथा को लीजिये। भरत के दिल में जगह थी, तभी तो उसमें राम, लक्ष्मण सीता, सभी को स्थान मिला। कैकेयी की स्वार्थ-बुद्धि, उसकी संकीर्ण-हृदयता, भरत की शालीनता में, कहीं दीखती ही नहीं। वैसी ही अथाह गंभीरता राम में है, तभी तो दिल को दिल से राहत है। राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न सभी आनन्द से हैं। रामराज्य की महिमा का रहस्य ही इसी में है। दूसरा उदाहरण दुर्योधन का है। वह विशाल कुरु-राज्य की सुई की नोक बराबर पृथ्वी भी अपने भाइयों को देने को तैयार नहीं। वह तो अपने राज्यरूपी अरण्य का अकेला केसरी बन कर रहना चाहता है। राज्य का एक शतांश

क्या सहस्रांश भी, अपने अधिकार से निकल जाना वह सहन नहीं कर सकता। सुई की नोक बराबर कम होने पर भी राज्य उसके लिए अपर्याप्त है ! कैसा मज़ा है !

किन्तु मनुष्य सामाजिक प्राणी है, और समाज का आरंभ ही इस सिद्धान्त पर हुआ है कि इस व्यक्तिगत स्वार्थों के ऊपर सामाजिक स्वार्थों को मान दें। समाज के अहित को अपना अहित मानें। दूसरों के लिए थोड़ा-सा त्याग करना सीखें। इसके विपरीत अगर मनुष्य स्वार्थ को ही तरजीह देने लगे, तो साधारण पशु में और उसमें कोई भेद ही न रह जाय। एक कर्तव्य बुद्धि की सीमा ही मनुष्य को पशु की श्रेणी से ऊँचा उठाती है। ऊपर हम देख चुके हैं कि कहीं तो कार्यों में तत्परता और लगन दिखाई पड़ती है और इसी कारण उनकी सफलता में संदेह नहीं होता, भले ही वे काम कष्टसाध्य और कठिन हों। दूसरी ओर छोटे-छोटे सरलता से संपादित होने योग्य कार्य पड़े रह जाते हैं। उनके लिए मनुष्य को बहाना ढूँढना पड़ता है कि आज समय नहीं है, कल सुयोग नहीं था, अथवा यह कार्य असंभव है, उस तक अपनी पहुँच नहीं है, इत्यादि।

कहने का प्रयोजन इतना ही है कि चाहे छोटा कर्तव्य हो चाहे बड़ा, जिसे मनुष्य कर्तव्य समझ ले, उसे पूरी संलग्नता से करना ही चाहिए। समय और सुयोग की बात उठानी ही नहीं चाहिए। क्योंकि दुनियाँ इतनी अन्धी नहीं है, कि कार्यों के परिणाम की ओर उसकी दृष्टि न जाती हो। वह तो भली प्रकार जान लेगी कि कार्य आपने इच्छापूर्वक किया है या नहीं। यदि दुनियाँ न भी समझे तो भी मनुष्य, मनुष्यता का दावेदार होने के नाते, मन लगाकर अपने कर्तव्यों का पालन करने के लिए, नैतिक दृष्टि से

बाध्य है। यदि आज से सब काम सच्चे दिल से होने लगें तो दुनियाँ का बहुत-सा क्लेश दूर हो जाय। मनुष्य क्या प्राणीमात्र की कल्याण-साधना का यह एक महामन्त्र है।

बात यह है कि असत्य असत्य के रूप में रह कर दुनियाँ का उतना अहित नहीं करता, जितना वह सत्य का नाम धारण करके करता है। अगर हम सच्चे दिल से अपने पड़ोसी से कह दें कि भाई हम सरासर झूठ बोल रहे हैं हमारे पास तुम्हारी सहायता का कोई उपाय नहीं है, तो वह झूठ को सच मानकर संशय में तो नहीं पड़ा रहेगा। जब लुच्चे-गुंडे भलेमानसों की पोशाक पहनने लगते हैं, तब प्रत्येक की इज़्ज़त आबरू खतरे में पड़ जाती है। गुंडे न रहें, ऐसा तो हो ही नहीं सकता। वे रहेंगे, भले ही किसी समय उनकी संख्या बहुत थोड़ी रह जाय। उनका रहना उतना हानिप्रद नहीं होगा, यदि वे सच्चे स्वरूप में रहें—अर्थात् प्रयोजन इतना ही है कि मनुष्य का बाहर भीतर एक-सा होना चाहिए। दोहरी नीति समाज और व्यक्ति दोनों के अहित का साधन बनती है।

वर्तमान युग को अपनी सभ्यता का बड़ा अभिमान है। आज का मनुष्य अपने आपको विश्वहितैषी मानकर अपने को विश्व की समस्याओं का चिन्तन करने वाला कहने का साहस करता है। उसके विचार की परिधि मनुष्य-समाज तक ही सीमित नहीं है, समस्त प्राणिवर्ग का उसमें समावेश हो जाता है। कम से कम आज के उन्नत मनुष्य को तो अपने जीवन में यह मौका ही नहीं देना चाहिए कि कोई उसे इशारा करके "जहाँ चाह वहाँ राह"—कहकर कर्तव्य को याद दिला सके। यह तो उस असभ्य आचरण के लिए कहा जाना चाहिए, जिसे आज का समाज बहुत पीछे छोड़ आया मानता है। पर मानना एक दूसरी बात है और हरएक

काम में सच्चा होना दूसरी बात है। हमें तो चलते फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते, घर-बाहर, बाज़ार-हाट, कचहरी-दफ्तर सब जगह विरुद्ध आचरण ही दिखाई पड़ता है। प्रकृति का कण-कण, जहाँ चाह वहाँ राह, कहकर सबका ध्यान कर्तव्य की ओर आकर्षित करता है। लेकिन प्रकृति के आदेश पर कोई दृष्टिपात नहीं करता। सब उसी तरह चले जा रहे हैं। भीड़-भाड़, कशमकश और हल्ले-गुल्ले में किसी को इतनी फ़ुरसत ही नहीं है कि शान्ति के साथ ज़रा इस वाक्य पर चिन्तन करे और अपने जीवन को सुकृत्यों द्वारा सफल बनाए। तभी तो मित्रों से, भाइयों से, सगों से, और संबंधियों से हमें बार-बार खीझकर कहना पड़ता है कि आप चाहे जितने हीले-हवाले करें पर अन्त में हमें यही कहना पड़ेगा कि जहाँ चाह वहाँ राह। अब पाठक ही बताएँ कि इस प्रकार का वर्तमान मानव-समाज ही क्या चरम सभ्यता का प्रतिरूप हो सकता है?

———

बालविवाह

अन्यान्य जातियों तथा देशों में विवाह एक सामाजिक बंधन या पारस्परिक समझौता माना जाता है। इसीलिए वहाँ इस समझौते में शिथिलता आते ही विवाह-विच्छेद का प्रश्न सामने आता है। समाज के अस्तित्व के लिए जैसे विवाह का औचित्य स्वीकार किया जाता है, उसी तरह वहाँ विवाह-विच्छेद का औचित्य भी स्वीकार करना पड़ता है। लेकिन भारत में दूसरी ही बात है। यहाँ विवाह एक धार्मिक संस्कार है। वह आजन्म ही नहीं, जन्म-जन्मान्तर में कायम रहता है। यही एक विश्वास है, जिस पर बाल-विवाह की नींव कायम है। और साथ ही तलाक का अस्तित्व, अपवाद स्वरूप अवस्थाओं को छोड़कर, स्वीकार नहीं किया जाता।

लेकिन बालविवाह का प्रचलन, परदे की तरह, हिन्दू जाति में मध्यकाल से ही प्रचलित हुआ है। इस कुप्रथा का प्रधान कारण मुसलमान राजाओं तथा सरदारों का हिन्दू लड़कियों के लिए प्रयत्नशील होना ही है। अलबेरूनी के लेख से पता चलता है कि हिन्दू लोग विदेशी और विधर्मी मुसलमानों से किसी प्रकार का सम्बन्ध रखना पसन्द नहीं करते थे, तथा हर हालत में अपने आपको उनसे श्रेष्ठ समझते थे। यदि मुसलमान धार्मिक और सांस्कृतिक हठ छोड़कर भारत को अपना घर बनाते तो शायद इस प्रकार के विरोध की अवस्था ही न आती। वे भी प्राचीन विदेशी आक्रमणकारियों की तरह भारतीय समाज में खप जाते। वैदिक,

पौराणिक तथा बौद्धकालीन सभ्यता का उत्तराधिकारी हिन्दू समाज राजनीतिक विजय-पराजय को उतना महत्त्व नहीं देता था, जितना धार्मिक और संस्कृति-सम्बन्धी विजय-पराजय को। उस समय बालविवाह, जौहर, सती और परदा जैसी कुप्रथाओं को उसने अपनी शरणभूमि बनाया और अपने अस्तित्व की रक्षा की, तथा उनका औचित्य साबित करने के लिए धर्मशास्त्रों के प्रमाण उद्धृत किए।

उस आपत्काल के लिए किसी हद तक इस प्रयत्न का समर्थन किया जा सकता है। लेकिन धर्मशास्त्र के द्वारा इसके अनुमोदन का दुष्परिणाम बड़ा भयानक हुआ। हिन्दूसमाज एक तो यों ही अधःपतित, संकीर्ण और लकीर की फकीर रह गया था; उस पर उसे राजनीतिक आधिपत्य भी खोना पड़ा। हठधर्मी शासकों के अत्याचार-युग में उसकी दशा और भी दयनीय हो गई। वह अज्ञान और अविचार के वातावरण में जीवन बिताने को बाध्य हो गया। फल वही हुआ जो होना स्वाभाविक था, अर्थात् कुरीतियों के चीथड़ों को उसने अपने शरीर से चिपटा रक्खा, उन्हीं को वह स्वाभाविक और नीति तथा धर्म-संगत मानने लगा। आपत्काल के लिए जो धर्म स्वीकार किया गया था, उसी को उसने एक-मात्र कल्याणकर समझ लिया। वह संस्कार इतना गहरा होगया है, कि अब तक उन्नति के पहिये में रोड़ा बनकर उसे अटकाये हुए है। यहाँ तक कि इस कुप्रथा को रोकने के लिए व्यवस्थापिका सभा को कानून बनाना पड़ा है, और पोंगापंथी लोग अभी तक उस कानून के विरोध में अपने जीवन की सार्थकता मानते हैं।

बालविवाह के औचित्य के संबंध में जो युक्तियाँ पेश की जाती हैं, उनमें से मुख्य यही हैं। १. जब विवाह जन्मजन्मातर तक

कायम रहता है तो लड़के-लड़की के वर्तमान जन्म के इष्ट अनिष्ट का प्रश्न ही नहीं उठता। जो काम कल करना है उसे आज ही क्यों न कर दिया जाय। २. यदि लड़की पिता के घर रजस्वला हो हो जाय तो पिता पाप का भागी होता है। ३. शीघ्र विवाह हो जाने से चित्तवृत्तियाँ इधर उधर नहीं जातीं।

यदि प्रथम युक्ति पर विचार करें तो पहले जन्मजन्मान्तर की बात ही सरलता से सिद्ध नहीं हो सकती। विवाह के आध्यात्मिक मिलन की बात जीवन की पवित्रता का आदर्शमात्र है। यदि आदर्श का कोई सूत्र न हो तो किस के सहारे साधारण मानव, जीवन के सुख-दुःख को, धैर्यपूर्वक सहन करने में समर्थ हो? इसीलिए विवाह जैसे सामाजिक संस्कार को धार्मिक रूप दिया गया है। यदि इसे न भी मानें और जन्मजन्मान्तर में स्त्री-पुरुष का वियोग नहीं होता, ऐसा ही मान लें, तो भी तो बालविवाह का समर्थन नहीं होता। जो पुरुष जिसे मिलना है, वह मिलेगा ही, जो स्त्री जिसकी है, उसका हाथ उसे पकड़ना ही होगा। अनावश्यक करने की आवश्यकता ही क्या है? क्यों न उनके शरीर को इस बीच विकास का अवसर दिया जाय। फिर माता-पिता का भी तो कोई कर्तव्य और उत्तरदायित्व होता है। जो माता-पिता प्रकृति के आदेश के विरुद्ध लड़के-लड़कियों के विवाह में अनुचित शीघ्रता करते हैं, वे अपने उत्तरदायित्व से विरत होना चाहते हैं। उनका यह कृत्य धर्म और नीति दोनों की दृष्टि से अननुमोदनीय है।

दूसरी युक्ति के समर्थक कहते हैं, "ते सर्वे नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम्।" वास्तव में इस युक्ति में कुछ बल है। किन्तु सबसे अधिक दुरुपयोग इसीके कारण हुआ है। चार-चार और छः-छः बरस की कन्याओं को विवाह के बन्धन में जकड़ दिया

जाता है, इसी युक्ति की आड़ में। पर क्या रजस्वला कन्या को देखने वाले ही निन्दनीय और पाप के भागी होगें ? क्या अबोध बालक-बालिकाओं को परिणय के सूत्र में बाँधने वाले कुत्सा और पाप के फल से बचे रहेंगे ? कदापि नहीं। सत्य के चार आँखें होती हैं और धर्म न्याय के रथ पर चढ़कर चलता है। उन्हें धोखा नहीं दिया जा सकता। यदि रजस्वला होने के उपरान्त विवाह करना पाप है तो रज-वीर्य परिपुष्ट होने से पहले विवाह करना घोरतर पाप है; चाहे किसी के शास्त्रों में इसके लिए एक भी वचन का विधान न हो; क्योंकि सत्य ही सबसे बड़ा शास्त्र है। अन्तःकरण का विधान ही सबसे बड़ा नियम है।

इसके अतिरिक्त जहाँ शास्त्रों की एक दो युक्तियाँ बाल-विवाह के समर्थन में बड़ी मुश्किल से पेश की जा सकती है, वहाँ बालक-बालिका दोनों के लिए ब्रह्मचर्य के विधान का कितना महत्त्व है ? ब्रह्मचर्य से जो अनन्त लाभ होते हैं, उनकी उपेक्षा कैसे की जा सकती है ? कोई ऐसी परिस्थिति आ जाय जब ब्रह्मचर्य-रक्षा अशक्य प्रतीत होती हो, तो उपर्युक्त युक्ति का अनुसरण संगत हो सकता है। और वैसे ही समय तथा वैसी ही परिस्थिति के लिए उपर्युक्त वाक्य का विधान भी है।

शीघ्र विवाह हो जाने से मन की चंचलता कम हो जाती है, यह युक्ति बिलकुल ही लचर है। चित्तवृत्तियाँ मनोवृत्ति और ब्रह्मचर्य से शान्त और विकसित होती है, न कि असमय में विवाह कर देने से। मानसिक और शारीरिक शिथिलता भले ही दिखाई दे, वास्तविक आनन्दमयी शान्ति का तो अकाल ही रहता है।

वास्तव में हिन्दू जाति ने इस बालविवाह की कुरीति को अपना कर अपना शारीरिक स्वास्थ्य और आन्तरिक शान्ति खो दी है।

उसमें अब विचार करने की नीर-क्षीर-विवेकी शक्ति का सर्वथा लोप हो गया है। इस बाल-विवाह के परिणाम स्वरूप बढ़ी हुई विधवाओं की वृहत् संख्या ने उसके जीवन में और हाहाकार मचा दिया है। कारण कि बालविवाह के हामी विधवाविवाह के नाम से भय खाते हैं। उनमें इतनी उदारता भी नहीं है कि विधवाओं को अपना निर्णय स्वयं करने दें। धर्मानुकूल कहकर विष-वृक्ष तो लगा दिया था, पर अब जब उसमें फल आने लगे हैं, तो उनसे दूर भागते हैं। स्त्रियों के लिए तो सीता और सती का उदाहरण पेश करते हैं। उनके वैधव्य के दिन तपस्या में कटवाना चाहते हैं, पर यह नहीं जानते कि उन्हीं राम के लिए सीता कष्ट उठा सकती हैं जिन्होंने अपने बल से, पराक्रम से, शौर्य से, वीर्य से, उनके मन को वश कर लिया था। अबोध सीता और अबोध सती का ब्याह तो आर्यों में कभी सुना ही नहीं जाता था। सती ने अपर्णा बन कर अनन्त तपस्या के उपरान्त शंकर को प्राप्त किया था।

आज हम मुसलमान गुंडों को दोष भले ही दें और अपनी विधवाओं को कलियुग की स्त्रियाँ भले ही कहें, पर सारा दोष हमारा है। यह विषवृक्ष हमीं ने लगा रक्खा है। जब तक बाल-विवाह रूपी इस विषवृक्ष को जड़ से उखाड़कर न फेंक देंगे तब तक न तो हममें शौर्य, वीर्य और दृढ़ता का उदय होगा और न हम अपनी माँ-बहनों की रक्षा कर सकेंगे। यह सब कायरों के करने के काम नहीं हैं। लेकिन प्रसन्नता की बात है कि इधर कुछ समय से हिन्दूजाति में नया जीवन आया है, उसकी आँखें खुली हैं और वह अपनी भूलें समझने लगी है।

नाटकों की उपयोगिता

नाटक काव्य का वह भेद है, जो देखा जा सके, अर्थात् जिसका अभिनय किया जा सके। इसी से उसे दृश्यकाव्य नाम दिया जाता है। भारतवर्ष में तो नाटकों का आरंभ अत्यन्त प्राचीन काल से हो चुका है। वेदों में ही नाटक के तत्व संवाद आदि, पाये जाते हैं। भरत मुनि के समय, जो नाट्य-शास्त्र के प्रथम आचार्य माने जाते हैं, नाट्यकला बहुत उन्नति को प्राप्त कर चुकी थी। भरत मुनि का समय ईसा से पूर्व का है। इसी प्रकार दुनियाँ के अन्यान्य सभ्य देशों में नाटक का आरंभ बहुत प्राचीन समय से देखा जाता है। यूनान और चीन उनमें से मुख्य हैं।

आजकल नाटकों का अभिनय हम जिस रूप में देखते हैं, वह प्राचीन काल के अभिनय से बिलकुल भिन्न है। आजकल की नाट्य-रचना एवं रंगमंच तथा उनके साधनों आदि में पूर्वी तथा पश्चिमी नाट्यकला का मिश्रण देखा जाता है। प्राचीन नाटकों की रूप-रेखा और उनके आदर्श आदि पर विचार करें तो पश्चिमी और पूर्वी नाटकों में मौलिक मत-भेद देखा जाता है। उनके आदर्श भिन्न-भिन्न हैं, क्योंकि उनके दृष्टिकोण भिन्न थे। इसीलिए भारत में सुखान्त और यूरोप में दुःखान्त नाटकों का उदय हुआ। यूरोप का नाटक विद्यमान जीवन का यथार्थ चित्रण है। क्योंकि जीवन का परिणाम वियोगमय और दुःखमय देखा जाता है। पर भारतीय

नाटक जीवन की अनन्तता को लेकर आदर्श चित्रण करते हैं, वे संसार को सुखमय और आशावादी बनाते हैं। इस दृष्टि से भारतीय नाटकों को उपयोगिता अपेक्षाकृत अधिक है। विद्वानों का कहना है कि अनन्तकाल तक भारतीय जीवन में वही सुख शांति दिखाई पड़ती है जो वैदिक काल में थी। इसका यही कारण है कि यहाँ काव्य और साहित्य में उसी प्रकार के आदर्शों का समावेश किया गया है। इसके विपरीत यूरोपीय-जीवन में निराशा, विच्छेद, प्रतिशोध और असंतोष विशेष रूप से देखे जाते हैं।

जीवन की यथार्थता के इस चित्रण को आजकल भारतीय लेखक, नवीन और अद्भुत समझकर, बड़ी तत्परता से अपना रहे हैं। कालिदास और भवभूति की रचनाओं के अन्तिम परिच्छेदों को, यदि उनका वश चले, तो वे निकाले बिना न रहें। यह सत्य है कि ऐसी दुःखांत रचना यथार्थता का नग्न-चित्र हो जाती है। दुनियाँ में हम जो रोज़ देखते हैं, वही साहित्य में हमें मिल जाता है। उसका प्रभाव तात्कालिक और बड़ा द्रावक होता है। पर क्या राम और सीता के महत् चरित्रों की सार्थकता, अन्त में सीता के पृथ्वी में समा जाने में ही है? क्या दुष्यन्त और शकुन्तला का अन्तिम मिलन मनुष्य जीवन के प्राप्य आदर्श की ओर इशारा नहीं करता? क्या हमारे जीवन का दुःखमय परिणाम ही अन्तिम परिणाम है? यदि नहीं, तो जो साहित्य उसी का चित्रण करके समाप्त हो जाता है वह अवश्य अपूर्ण है। अतः इस महत्त्वपूर्ण उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए भारतीय कलाकारों को भारतीय विशेषता सुरक्षित रखनी चाहिए। कारण कि राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन की लगाम उन्हीं के हाथों में है। यदि उन्हें विदेशी तत्वों को ग्रहण ही करना हो तो बहुत सोच

विचार कर करें। केवल अन्ध अनुसरण की भावना न होनी चाहिए और न दूसरे की हरएक चमकती चीज़ को सोना ही समझ लेना चाहिए।

अब हमें सामान्यरूप से नाटकों की उपयोगिता पर विचार करना है। नाटक की सबसे प्रमुख उपयोगिता यही है कि उसका दर्शकों पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। श्रव्यकाव्य में जो बहुत सी बातें अव्यक्त रहती हैं, पाठक को उनके अनुमान के लिए स्वयं अपनी कल्पनाशक्ति का आश्रय लेना पड़ता है, वे नाटक या अभिनय में प्रत्यक्ष रखी जाती हैं। अतः अभिनय का कर्णेन्द्रिय और नेत्रेन्द्रिय के सन्निकर्ष से मन पर सीधा असर होता। श्रव्य-काव्य पढ़नेवाले की कल्पनाशक्ति, यदि तेज़ न हुई, तो वह कवि के अनुमानित आनन्द का लाभ न उठा सकेगा, पर अभिनय उस की कल्पना को बिना सताये उसकी आँखों के आगे अभिलषित चित्र प्रस्तुत कर देता है।

नाटक में अभिनेता पात्रों की वेष-भूषा धारण करते हैं। उन्हीं के हाव-भाव प्रदर्शित करते हैं। दर्शकों की दृष्टि में अभिनेता अभिनेता न रह कर, वही पात्र बन जाते हैं, जिनका वे अभिनय कर रहे हैं। इससे काल्पनिक जीवन से पृथक्, एक यथार्थ जीवन की सृष्टि होती है। यह यथार्थता, यह सत्यता, अभिनय के उपरान्त भी दर्शकों की अनुभूति की वस्तु बनी रहती है। यह नाटक के प्रत्यक्ष प्रभाव की दूसरी विशेषता है, और बड़े मार्के की है।

यही विशेषता हमारा ध्यान नाटक की कथावस्तु की ओर खींचती है, क्योंकि जो चीज़ इतना प्रभाव डाल सकती है, उसके विषय में स्वभावतः हम यह जानना चाहते हैं, कि वह सोना है या पीतल? वह हमारे सदाचार आदि सद्‌गुणों पर बुरा प्रभाव तो

नहीं डालती। यदि कथावस्तु का विन्यास केवल मनोरंजन के लिए हुआ है; अथवा यदि लेखक को इसकी परवाह नहीं है कि दर्शकों का सदाचार रहे या जाय, तो ऐसे नाटकों को दूर से ही नमस्कार करना चाहिए। मनोरंजन भी नाटक की एक उपयोगिता है, क्योंकि मनोरंजन भी स्वयं एक लाभ है, पर सदाचार को खोकर मनोरंजन की प्राप्ति श्रेयस्कर नहीं हो सकती। इसलिए मनोरंजन से भी बड़ी नाटक की उपयोगिता वह है जिसमें वह सदाचार की प्रतिष्ठा करे।

वास्तव में नाटक एक सार्वजनिक संस्था के रूप में हैं। उनके ऊपर सर्वसाधारण की शिक्षा का भार है। वे मनोरंजन के साथ सामूहिक जीवन को उन्नत और परिमार्जित कर सकते हैं; पर आजकल उन्हें व्यक्तिगत व्यापार का रूप प्राप्त हो गया है। इसका कुफल हमारे सामने है। तभी तो जनता की रुचि को परिष्कृत करने की ओर न लेखक का ध्यान रहता है और न रंगमंच के व्यवस्थापक का। लेखक अगर चाहे करे तो भी वह वैसा नहीं कर सकता, क्योंकि आज कल वह भी परतंत्र है। पैसे के हाथ में उसकी लगाम है, और पैसा जिधर चाहता है उसे मोड़ देता है। सार्वजनिक जीवन उन्नत और परिष्कृत होने के स्थान पर पतित होता जाता है। कला के नाम पर अश्लीलता ने रंगमंच पर स्थान पा लिया है। तभी तो नाटक की सफलता की कसौटी जनता की अधिकाधिक भीड़ ही मानी जाती है। न तो साहित्य अथवा कला की उत्कृष्टता की ओर किसका विशेष ध्यान है और न सामाजिक जीवन को सुसंस्कृत और समुन्नत करने की ओर। इस दुष्परिणाम का मूल कारण, पैसे के लिए नाटक-रचना और पैसे के लिए ही उनका अभिनय करना है, अर्थात् उनकी सार्वजनिकता को नष्ट करके उन्हें व्यक्तिगत व्यापार का रूप देना है।

चौदह हफ्ते और चालीस हफ्ते लगातार चलनेवाले खेलों को दीपक की उपमा दी जा सकती है, जिस पर असंख्य पतिंगे आकर अपना जीवन-सर्वस्व होम देते हैं, पर पाते हैं ज्वाला, संताप और मृत्यु। तिस पर मज़ा यह है कि उत्तर में जनता ही दोषी ठहराई जाती है। कहा जाता है, कि जनता इसी तरह की चीज़ें पसन्द करती है। हम तो जनता की रुचि के अनुसार ही काम करते हैं। अच्छी और सुरुचिपूर्ण चीज़ों की माँग ही नहीं है, पर यह कहकर अपने उत्तरदायित्व से मुख नहीं मोड़ा जा सकता। जनता की गाढ़ी कमाई से जो पैलेस-थियेटर बने हैं, उन्हीं को उसके आचरण का दायित्व अपने कन्धों पर लेना पड़ेगा।

अब इसमें संशय नहीं रहा, कि नाटक भी साहित्य के अन्य अंगों की तरह ही उपयोगी हैं। उनकी रचना अवांछनीय नहीं वरन् आवश्यक है। यह अवश्य है कि अनधिकारी हाथों में पड़कर, या विपरीत परिस्थितियों के पैदा हो जाने पर, उनका परिणाम उलटा ही हो। अर्थात् जहाँ अच्छे औ उच्च श्रेणी के नाटक जातीय-जीवन में अमृत की वर्षा करते हैं, वहीं रद्दी और कुरुचिपूर्ण नाटक हलाहल बन जाते हैं। अतः ऐसे निम्न श्रेणी के रद्दी नाटकों की कड़ी आलोचना करनी चाहिए ताकि उनका प्रचार रुक जाय।

कवि और चित्रकार

कवि और चित्रकार दोनों ही कलाकार हैं। उनकी गणना उत्तम कोटि के कलाकारों में की जाती है। कवि अपनी काव्यकला के द्वारा मनुष्य समाज में समादृत होता है। चित्रकार चित्रकला की सृष्टि करके मनुष्य जीवन में सौंदर्य की प्रतिष्ठा करता है।

शास्त्रकारों का मत है कि कलाएँ दो प्रकार की होती हैं, एक वे जिनका उद्देश्य उपयोगिता की सृष्टि करना होता है। उनमें प्रथम यही ध्यान रक्खा जाता है कि मनुष्य-जीवन की बाह्य आवश्यकताओं की उनके द्वारा पूर्ति होती हो। जैसे बढ़ई, लुहार और जुलाहे आदि का काम। इसीलिए उन्हें उपयोगी-कला संज्ञा दी जाती है। दूसरी प्रकार की कलाओं को ललित-कला संज्ञा दी जाती है। उनका उद्देश्य मुख्यत: सौंदर्य-सृष्टि होता है। वे मनुष्य की आन्तरिक इच्छाओं की पूर्ति की ओर विशेष झुकी रहती हैं। इस प्रकार की कलाओं में वस्तु-निर्माण कला, मूर्तिकला, चित्र-कला, संगीतकला और काव्यकला हैं।

उपयोगी कलाएँ हमारी शारीरिक उपयोगिताओं की पूर्ति करती हैं। ललित कलाएँ हमारी मानसिक तृप्ति का साधन बनती हैं; क्योंकि हमारा मन ही सौन्दर्य की विशेष रूप से खोज-बीन करता है। फलत: जो ललितकला हमारी विशेष मानसिक-परितृप्ति करने में समर्थ होती है, उसी को दूसरी की अपेक्षा उच्च स्थान दिया जाता है।

चित्रकार और कवि दोनों ही की कृतियाँ ललित कलाओं की श्रेणी में आती हैं। किन्तु ज़रा सूक्ष्म दृष्टि से उनकी कृतियों की समीक्षा करें तो ज्ञात होगा कि चित्रकार की कृति नेत्रेन्द्रिय के सन्निकर्ष से हमारी मानसिक तृप्ति का साधन बनती है अर्थात् चित्रकार की कला का सौंदर्यपान हम आँखों से उसकी कृति का अवलोकन करके करते हैं। किन्तु कवि की रचना का आनन्द उठाने के लिए हमें श्रवणेन्द्रिय के सन्निकर्ष की आवश्यकता होती है। फलतः पहली में जितने मूर्त आधार की आवश्यकता होती है, दूसरी में उससे कहीं सूक्ष्म आधार से काम चल जाता है। कभी-कभी तो यह निर्णय करना भी कठिन हो जाता है कि उसमें मूर्त आधार कुछ है भी। इसी मूर्त आधार की मात्रा के अनुसार कलाओं की उत्तमता और निकृष्टता का विचार किया जाता है। जिसमें जितनी ही मूर्त आधार की अधिकता होती है, वह उतनी ही हीन श्रेणी की मानी जाती है। काव्य-कला में मूर्त आधार का एक प्रकार से अभाव रहता है, इसलिए उसे कलाओं में सबसे ऊँचा स्थान दिया जाता है।

अब विचारणीय यह है कि क्या कवि की अपेक्षा चित्रकार का स्थान नीचा है? क्या उसकी कला कवि की अपेक्षा हीन श्रेणी की है? एक शब्द चित्र बनाता है तो दूसरा रेखा-चित्र, फिर दोनों की कलाओं में इतना विभेद क्यों? दोनों ही तो अपनी अपनी मानस-सृष्टि को इतना सजीव और इतना स्वाभाविक रूप प्रदान करते हैं कि उनकी भावनाओं का सामंजस्य द्रष्टा या श्रोता की भावनाओं से हो जाता है। जिन भावों को, जिन रसों को, जिस रूप में उन्होंने स्वयं अनुभव किया है, उन्हीं भावों को, उन्हीं रसों को, उसी रूप में दूसरे को अनुभव करा देने की

विलक्षण समता से दोनों की कृतियाँ ओत-प्रोत होती हैं, फिर क्या कारण है कि एक कला को दूसरे की कला से विशेष महत्त्व दिया जाता है? क्या वास्तव में मूर्त आधार की अधिकता और सूक्ष्मता कलाओं की उत्तमता और निकृष्टता की सच्ची कसौटी है?

विचार करने से प्रतीत होता है, कि मूर्तता जहाँ जितनी बढ़ती जायगी वहाँ मानसिकता अवश्य कम होती जायगी। जहाँ मानसिक भावनाओं का प्राधान्य रहेगा वहाँ मूर्तता का थोड़ा स्थान रह जायगा। 'ललित कलाओं का उद्देश्य ही मानसिक सृष्टि में सौंदर्य का प्रकटीकरण है।' अतः जिस कला में लालित्य की मात्रा विशेष होगी उसमें मूर्तता का उसी कदर अभाव होगा। चित्रकला में केवल चित्रपट का आधार रहता है। नेत्रेन्द्रिय के सन्निकर्ष से आनंद प्रदान करने की कलाओं में सबसे कम मूर्त आधार इसी में रहता है। इसीलिए अपने विभाग की अन्य कलाओं में इसका सबसे ऊँचा स्थान है। इसी तरह दूसरे विभाग की, अर्थात् श्रवणेन्द्रिय के सन्निकर्ष से मानसिक तृप्ति प्रदान करने वाली कलाओं में काव्य-कला का स्थान सर्वोपरि है।

अब हमें कवि और चित्रकार के पारस्परिक महत्त्व का अन्दाज़ लगाने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। मान लीजिए, किसी घटना विशेष पर कवि और चित्रकार दोनों ही ने अपनी-अपनी रचनाएँ कीं। चित्रकार ने रंग-रूप, आकार-प्रकार स्थूलता-सूक्ष्मता, दूरी-नैकट्य सबका यथावत् प्रदर्शन किया है। उसने अपने चित्र में उल्लिखित तमाम परिस्थिति को एक सजीव नैसर्गिक रूप प्रदान कर दिया है। चित्र में अंकित समस्त प्राणियों को उसने विधाता की सजीव सृष्टि के प्राणियों से अधिक दर्शनीय

बनाने में कमाल किया है। चित्रकार की मानसिक सृष्टि में हमें विधाता की सृष्टि का भ्रम होने लगता है। यह चित्रकार की कुशलता का चिह्न है। उसका चित्रण अत्यन्त सफलतापूर्वक हुआ है। तभी तो उसके मन की भावनाओं का हमारे मन की भावनाओं के साथ तादात्म्य हो सकना संभव हुआ है। लेकिन यह प्रभाव इस रूप में तभी तक हमें अनुभव होता है जब तक चित्र हमारी आँखों के सामने है। जहाँ वह आँखों से ओझल हुआ कि उसका प्रभाव क्रमशः क्षीण होने लगता है। जहाँ तक मानसिकता का सम्बन्ध है, चित्र की बहुत सी विशेषताएँ हमें जीवन-पर्यन्त विस्मृत नहीं होगी, लेकिन मूर्तता के कारण उसका तद्वत् प्रभाव तो चित्र के दृष्टिपथ से बाहर होते ही कम होने लगेगा।

अब उसी परिस्थिति पर रचित कवि की कृति को हम लें, तो हम देखेंगे चित्रकार की कृति की भाँति उसमें रंग और रूप का प्रत्यक्ष प्रदर्शन नहीं है। लेकिन उसके संकेत बड़े मार्मिक हैं। वे हमारी मानसिक-वृत्तियों को बहुत गहराई तक ले जाते हैं। उन्होंने हमारी कल्पना और स्मरणशक्ति को इतना प्रभावित कर दिया है कि चाहे वह कविता सामने रहे या न रहे, उसकी शब्दावली स्मरण रहे या न रहे, लेकिन वह चित्र अपनी कल्पना और स्मरण-शक्ति की सहायता से हम जब चाहें अपने मन में प्रत्यक्ष करके देख सकते हैं। यह अवश्य है कि चित्र देखने में जितना समय लगेगा, कविता का ज्ञान प्राप्त करने में उससे अधिक समय लगेगा, पर कविता का प्रभाव स्थायी होगा। उसका प्रभाव चित्र की तरह क्षणिक न होगा। इसलिए चित्रकार की अपेक्षा कवि अवश्य ही उत्तम कोटि का कलाकार है।

इसका यह तात्पर्य नहीं है कि चित्रकार का कुछ भी महत्व

नहीं। कला के क्षेत्र में चित्रकार का बड़ा ऊँचा पद है। ऊपर जो कुछ कहा गया है वह तो पारस्परिक तुलना की दृष्टि से कहा गया है। प्राचीन काल में जब लिपियों का आविष्कार नहीं हुआ था तब के कवि की वाणी को जीवित रखनेवाला चित्रकार ही है। उस समय की भारती गूँगी रह जाती, यदि चित्रकार उसे प्रश्रय न देता। प्राचीन मिस्र के ऐसे अनेक चित्र प्राप्त हुए हैं, जो हमारे कथन का समर्थन करते हैं। यही क्यों, आज के साहित्य और शिल्प को बहुत कुछ देने का श्रेय चित्रकार को प्राप्त है। यूरोपियन चित्रकार रैफेल लिनार्डो का बड़े से बड़े कवियों के समान ही आदर है। उनकी कृतियाँ भी उसी तरह अनमोल हैं। अजंता और कार्ली की गुफाओं के चित्रकार अज्ञात नाम होने पर भी कालिदास की ही तरह अमर है।

अन्त में हम कहेंगे कि कवि और चित्रकार दोनों ने दुनियाँ की सभ्यता और संस्कृति को जो कुछ दान किया है उसका मोल नहीं कूता जा सकता। विधाता ने मनुष्य को आदम-हौवा बनाकर भेज दिया था। कवि और चित्रकार ने उसे आधुनिक सभ्य और सुसंस्कृत मनुष्य बनाया है।

पुरातन तथा आधुनिक सभ्यता

इससे पूर्व कि हम पुरातन तथा आधुनिक सभ्यता की रूप-रेखा की ओर संकेत करें, यह अप्रासंगिक नहीं मालूम होता कि पहले सभ्यता क्या वस्तु है, यह बता दें। महात्मा गांधी ने कहा है कि "सभ्यता वह आचरण है, जिससे मनुष्य अपना कर्तव्य पालन करता है। इसके विरुद्ध जो कुछ है वह असभ्यता है।" एक दूसरे महात्मा का कथन है कि "सभ्यता का यथार्थ अर्थ यह है कि हमारे व्यवहार और आचरण ऐसे सुधरे हुए हों जिससे हम स्वयं लाभ उठाते हुए अपने समाज का हितसाधन कर सकें। सद्विचार, प्रेम, सहानुभूति, उदारता और सच्चरित्रता उसके आभ्यन्तरिक गुण हैं। देशभक्ति सभ्यता का फल है।" इस प्रकार हमें यह तो ज्ञात हो गया कि सभ्यता मानव-समाज के लिए तथा विश्व के लिए कल्याणकारी ही होनी चाहिए। मनुष्य उस कार्य-प्रणाली को कर्तव्य कैसे स्वीकार कर सकता है, जो मनुष्य समाज किंवा प्राणि-समाज के अकल्याण का कारण होती है।

यों तो दुनियाँ के प्रत्येक देश में प्राचीन और अर्वाचीन सभ्यताओं के रूप रंग में अन्तर हो सकता है, और वे विचार का विषय बन सकती हैं; पर यहाँ तो 'पुरातन सभ्यता. से हमारा

तात्पर्य प्रायः प्राचीन भारतीय-सभ्यता तथा 'आधुनिक सभ्यता' से भारत में दिनोंदिन प्रचार पा रही यूरोपीय सभ्यता से है। प्राच्य-सभ्यता क्या थी, उसका आदर्श क्या था और मनुष्य समाज के लिए वह इष्ट अथवा अनिष्ट कैसे फलवाली हुई? इसी प्रकार पाश्चात्य सभ्यता, जो आज हमारी प्राचीन सभ्यता को हटा कर उसका स्थान छीन रही है क्या है, उसका आदर्श क्या है और वह दुनियाँ के लिए हितकर है अथवा अहितकर?

आधुनिक सभ्यता का रूप लार्ड चेस्टरफील्ड ने अपने एक पत्र में इस प्रकार खींचा था, कि "जैसे-जैसे विज्ञान तथा कला की उन्नति और व्यापार तथा कारीगरी में सुधार होता गया वैसे वैसे एक नई व्यवस्था पैदा हुई। विषय-भोग की अधिकता के कारण मनुष्य अपनी सब आय अपने ही लिए व्यय करने लगे और कृपणता के सामने अतिथि-सत्कार का, तथा नीचता के सामने वैभव का नाश हो गया। आज धनी मनुष्य जेब-घड़ी के आकार में, अपनी जेब में इतना धन रख सकता है, जितने से वह एक बड़ा जंगल मोल ले सकता था। एक पूरी जागीर की आय एक अंगूठी के आकार में उँगली में पहन सकता है और एक राज्य की आय का धन अपनी हुलास की डिबिया में बन्द करके व्यसनों की पराकाष्ठा को पहुँच सकता है।" इसी कारण महात्मा गांधी ने वर्तमान सभ्यता को 'असभ्यता' और एडवर्ड कार्पेंटर महाशय ने उसे 'एक प्रकार का रोग' कहा है। हमें भी इस बात का पद-पद पर अनुभव होता है कि वर्तमान सभ्यता स्वार्थमयी है, वह मानव समाज तथा विश्व के लिए अहितकारिणी है। हमने आज बाहरी आविष्कारों और शारीरिक सुखों की पूर्ति को ही सभ्यता मान लिया है। उदाहरणार्थ पहले लोग आत्मरक्षा के लिए घरों और

वस्त्रों की आवश्यकता समझते थे। इसलिए सादगी का ख़याल रखा जाता था। आज शान शौकत और सभ्यता के प्रदर्शन के लिए उनकी आवश्यकता समझी जाती है। इसी वास्ते अधिक से अधिक व्यय की जरूरत होती है। और सभ्य सभी बनना चाहते हैं, सुखी सभी होना चाहते हैं, इसीलिए स्वार्थों का परस्पर संघर्ष होता है। पहले हथियारों की आवश्यकता आत्मरक्षा के लिए थी, आज अपने स्वार्थों की पूर्ति में ही उनका सदुपयोग होता है। हवाईजहाज़ के एक ही गोले से अनन्त जनसंहार करना आज के युद्ध का सबसे सरल और सीधा उपाय है, और यही चरम सभ्यता का द्योतक है।

आधुनिक सभ्यता का और कोई दूसरा परिणाम हो भी नहीं सकता, क्योंकि धर्म और नीति से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। आज के सभ्यताभिमानियों का कहना है कि हमारा काम धर्म सिखाना नहीं है। स्वामी रामतीर्थ जी ने एक बार ठीक ही कहा था कि "यूरोप और अमेरिका के सभ्य कहलाने वाले देश वास्तव में विषाद की बढ़ी चढ़ी अवस्था में हैं। वर्तमान सभ्यता अपने मुख्य उद्देश्य से भ्रष्ट है। आज हम मनुष्य का इस प्रकार मोलभाव करते हैं जैसे बाज़ार में गेहूँ चना बिकते हैं।" ऐसी सभ्यता भला क्या कभी सच्ची उन्नति का साधन बन सकती है?

अब यह प्रश्न हो सकता है कि जब आधुनिक सभ्यता इस प्रकार नाशकारी है तो दुनियाँ क्यों उसकी ओर झुकती जा रही है? यदि उसमें दोष ही दोष हैं तो उसका अनुसरण इतनी शीघ्रता से क्यों हो रहा है? इसका उत्तर गांधी जी ने बड़ी सुन्दरता से दिया है कि "अच्छी बातें सदा कछुए की चाल से ही चलती हैं। रेल से उनका मेल कभी नहीं बैठता। अच्छे काम करने वाले

निःस्वार्थ होते हैं। वे कभी जल्दी नहीं करते। उन्हें मालूम रहता है कि सद्भावनाओं की छाप मनुष्य के अन्तःकरण पर बैठाने के लिए कई युग आवश्यक होते हैं। घर बनाना कठिन है पर उसका गिराना बड़ा ही सहज है, इत्यादि।" रवींद्रनाथ ने यूरोपीय सभ्यता के विस्तार का एक और कारण भी लिखा है। वे कहते हैं, "जो जाति जब तक ईंधन जुटाती रही तब तक उसकी सभ्यता धधकती हुई अपना प्रकाश फैलाती रही, उसके बाद या तो वह बुझ गई या राख के नीचे दब गई, पर यूरोपीय सभ्यता के लिए लकड़ी जुटाने का भार अनेक देशों और अनेक जातियों ने अपने ऊपर लिया है इसी से नहीं कहा जा सकता कि उसकी आग बुझ जायगी अथवा फैलकर सारी पृथ्वी को ग्रस लेगी।"

आधुनिक सभ्यता पर विचार हो चुका। अब हमें प्राचीन सभ्यता पर विचार करना चाहिए। हमारी प्राचीन सभ्यता का मूल आधार धर्म पर अवस्थित था। धर्म को हानि पहुँचा कर, अनीति को प्रश्रय देकर, अभ्युदय की प्राप्ति उसे प्रेय नहीं थी। इसके अतिरिक्त एक बात और थी और वह यह कि हमारी सभ्यता राष्ट्रनीति के आदर्श को लेकर खड़ी नहीं हुई थी, जैसे कि ग्रीक तथा रोमन सभ्यताएँ। रवीन्द्रनाथ ने लिखा है कि, "प्राचीन ग्रीक और रोमन सभ्यताएँ राष्ट्रीय स्वार्थ से संगठित हुई थीं। इसी कारण राष्ट्रीय महत्त्व मिटने के साथ ही उनका अंत हो गया।" आधुनिक सभ्यता का आदर्श भी वही है। तभी तो वर्तमान युग राष्ट्रीय स्वार्थों का युग बन रहा है। आये दिन राष्ट्रों के स्वार्थ परस्पर संघर्षित होते रहते हैं। यदि इस राष्ट्रीय स्वार्थ-नीति का शीघ्र ही अन्त न हो गया, इस नाशकारी प्रचलित सभ्यता को मुर्दों के साथ न दफना दिया गया, तो यह अवश्य ही संसार को ग्रस लेगी।

इसके विपरीत हमारी प्राचीन सभ्यता की आधार-शिला समाज थी। तभी तो उसमें राष्ट्रीय-स्वार्थ को स्थान नहीं मिला है। हिन्दू गृहस्थ के लिए तो समस्त विश्व ब्रह्ममय था। उसका प्रत्येक कार्य विश्व की कल्याण-कामना का द्योतक होता था। राष्ट्रीयता के संकुचित क्षेत्र में उसके कर्तव्य की इतिश्री नहीं हो जाती थी। राष्ट्रीय कर्तव्य से यह कर्तव्य कहीं अधिक महान और कठोर है। उसी का प्रसाद है कि दुनियाँ की अन्य सभ्यताएँ चार दिन अपना प्रकाश दिखाकर विलीन हो गई हैं, पर भारतीय सभ्यता आज भी वैसी ही शांत, सौम्य और मधुर है, जैसी वह अत्यन्त प्रचीन काल में थी। शक, हूण, कुशन, पठान, तुर्क, मुग़ल कितने ही आये और चले गये। नये-नये राज्य जमे, नई-नई राज-नीतियाँ प्रचलित हुईं, पर भारतीय सभ्यता के कलेवर में किसी अघात का चिह्न नहीं है। यदि राष्ट्रनीति उसकी आधारशिला होती, तो अब तक वह कभी की लुप्त हो गई होती। उसने तो समाज के हृदय को अपना सिंहासन बनाया था। दिल्ली और कन्नौज के सिंहासन पर भले कोई आये और बैठे इससे उसका कुछ आता-जाता न था। पर बड़े दुःख की बात है कि आज उसका वह सिंहासन हिलता-डुलता प्रतीत होता है। हमारी श्रद्धा दूसरी ओर झुकती जा रही है। आज पाश्चात्य सभ्यता की चकाचौंध में हमारी दृष्टि भ्रमित हो रही है। पर हमें खयाल रखना चाहिए कि हम जिसे आलोक समझ रहे हैं, वह आसुरी माया है। जिस सभ्यता ने स्वयं यूरोप को खंड-खंड में बाँट दिया है, जिसने जातियों को जातियों से लड़ाया है, जिसने साम्राज्यवाद और पूँजीवाद को खड़ा करके विषमता के दुर्निवार चक्र में सहस्रों लाखों निरीह स्त्री-पुरुषों को पीस डाला है, जिसने प्रेम की जगह युद्ध की प्रतिष्ठा की है,

जिसने पड़ोसी धर्म को खून के क़तरों में देखा है, जिसने सौहार्द्र के ऊपर स्वार्थ को तरजीह दी है, उसका गंगा और यमुना के पवित्र तटों पर स्वागत करना अपने आँगन में विष का वृक्ष लगाना है। यूरोप जिससे त्राण पाने के लिए छटपटा रहा है, उसे आलिंगन करने के लिए भारत का अधीरतापूर्वक अग्रसर होना यही बताता है कि आज वह सन्निपात-ग्रस्त है। ऋषियों के अक्षय ज्ञान-भांडार की धरोहर को फेंककर आज वह मृत्यु को वरण करने जा रहा है। पर क्या ऐसा ही होगा ? क्या भारतीय सभ्यता-मन्दिर के भग्नावशेषों पर यूरोपीय गिरजे की रक्ताक्त नींव रक्खी जायगी ? इसका प्रामाणिक लेख तो भविष्य की अलमारी में रक्खा है।

जिसकी लाठी उसकी भैंस

कहा जाता है कि दुनियाँ ने उन्नति कर ली है। अब मानव-समाज बर्बरता के युग को पार कर चुका है। सभ्यता के स्वर्ण युग में वह साँसें ले रहा है। संकीर्णता को त्याग कर शालीनता को उसने धारण किया है। उसके विचारों में सूक्ष्मता और उदारता आ गई है। इसका प्रमाण यही है कि इससे पहले उसने साम्यवाद के स्वप्न नहीं देखे थे। कृषक और श्रमी वर्गों के अभ्युत्थान के लिए विचार नहीं किया था। प्रजातंत्र की भावना का सार्वदेशिक प्रचार नहीं हुआ था। पड़ोसी-धर्म की इतनी सूक्ष्म मीमांसा नहीं की गई थी। सांप्रदायिकता को इतना गौण स्थान नहीं दिया गया था। धार्मिक कट्टरता और पक्षपात कभी इतने निरादर की वस्तु नहीं हुए थे। आज गुलामों का व्यापार नहीं होता। आज पराजित जातियों की स्वाधीनता जंजीरों में नहीं कस दी जाती। आज जगह-जगह न्याय के दरबार लगे हैं, जहाँ नीर-क्षीर का विवेक होता है। आज अनधिकारी को दंड नहीं होता तथा अधिकारी उसमें वंचित नहीं रहने पाता। शेर और भेड़ एक घाट पानी पीते हैं। जिसकी लाठी उसकी भैंस का युग इतिहास के लोगों के साथ दफन हो चुका है। आज मुगल आए, कल पठानों की तलवार चमकी, परसों दूसरों का आक्रमण हुआ, तरसों शक और कुशनों का साम्राज्य विस्तीर्ण हुआ, इस प्रकार के आकस्मिक परिवर्तन अब संभव नहीं।

जो कुछ ऊपर कहा गया है वह अच्छे ढंग से भले ही कहा गया हो, पर यथार्थ ढंग से नहीं कहा गया है। ज़रा भी विचार-पूर्वक आज के संसार पर दृष्टि डालने से हमें जो कुछ ज्ञात होता है, वह उपर्युक्त कथन का समर्थन नहीं करता। यों तो प्राचीन और नवीन की तुलना हो ही नहीं सकती। देशकाल और परिस्थिति भेद से दोनों में अंतर होता ही है, क्योंकि प्राचीन प्राचीन ही है और नवीन नवीन ही। तथापि नवीन नवीन होने के कारण ही श्रेष्ठ है और प्राचीन प्राचीन होने के कारण ही त्याज्य है, यह दलील भी उचित दलील नहीं है। अब रही प्राचीन युग की बर्बरता की बात। यह हो सकता है कि उस काल में जिसकी लाठी उसकी भैंस का अधिक प्रचार रहा हो, पर आजकल भी तो उसका कम प्रचार नहीं है। आज भले ही मुग़ल और पठान प्रजा को अपनी तलवाररूपी लाठी से न हाँकते हों, पर अमीर ग़रीब को और पूँजीपति श्रमियों को उससे भी अधिक हृदय-हीनता से, क्या इंगलैंड, क्या अमेरिका और क्या जर्मनी सभी देशों में, हाँकते हैं। यदि आज की दासता का नंगा नृत्य देखना हो तो कुलीप्रथा के इतिहास के पन्ने उलटिये और किताब पढ़ने की इच्छा न हो तो चाय के बगीचों, ईख के फार्मों, फैक्टरियों और कल-कारखानों के भीतर चलकर देखिये, चाहे एशिया में, चाहे अफ्रीका, अमरीका और यूरोप के किसी सभ्य देश में, वहाँ आप कंकाल-शेष स्त्री-पुरुषों का समुद्र पाएँगे, जिनमें चरित्र नहीं, सदाचार नहीं, मनुष्यता नहीं, मांस नहीं। पर इस अभाव का दोष उनके मत्थे नहीं। पूँजीपतियों ने उनकी ईश्वरीय-संपत्ति को हड़प कर लिया है। वे प्राचीनकाल के गुलामों से भी गिरी अवस्था में हैं।

कहने का प्रयोजन इतना ही है जिसकी लाठी उसकी भैंस का

प्रचार वर्तमान युग में किसी क़दर कम नहीं है। सुनहली स्याही में लिखा हुआ मृत्युदंड का आज्ञापत्र जिस प्रकार अपनी स्वाभाविक भयंकरता में कम नहीं हो सकता, उसी तरह सुंदर शब्दों में व्यक्त किया हुआ वर्तमान की क्रूरता का चित्र भी मन को रंजन करने की सामग्री नहीं बन सकता। अतीत की मूर्ति कभी-कभी उलटी-सीधी भी खींची जा सकती है, क्योंकि उसके विषय में प्रत्यक्ष ज्ञान का प्रायः अभाव रहता है। तर्क और युक्तियाँ ही उसके रूप को स्थिर करती हैं, और तर्क का स्थान जब कुतर्क ले लेता है, तब तो उसका विरूप होना स्वभाविक ही है। किन्तु वर्तमान का ज्ञान तो सदा प्रत्यक्ष होता है, उसके विषय में तो प्रत्येक को अनुभव रहता है। आज ऐसा कौन होगा, जिसे दुनियाँ में सुख और शांति नज़र आती हो? जिसके कामों में आनन्द और विनोद की मीठी तान सुनाई पड़ती हो? यदि कोई निकल भी आये तो दुनियाँ का बहुमत उसे या तो अंधा कहेगा या उसके कानों में कुछ विकार बतलायगा, क्योंकि चारों दिशाओं में तो भयंकर हा-हाकार छा रहा है। आदमी रो रहे हैं, स्त्रियाँ विलख रही हैं, बच्चे त्राहि-त्राहि कर रहे हैं। अन्न का अभाव हो रहा है। बीमारों को पथ्य नसीब नहीं है। सर्दी-गर्मी से तन की रक्षा करने के लिए पर्याप्त वस्त्र नहीं हैं। सौ पीछे निन्नानवे आदमियों की यह दशा है, और वह भी उस शेष एक फी सदी के ऐश-आराम के सामान जुटाने के लिए, उनके विलास के महा-यज्ञ में आहुति बनने के लिए। फिर भी अगर कहा जाय कि जिसकी लाठी उसकी भैंस का सिद्धांत अब काम में नहीं आता, तो कहने वाले को आप क्या मूर्खों के स्वर्ग का बाशिन्दा नहीं बताएँगे?

रही प्राचीन काल की बात, सो वह तो प्रत्यक्ष ही शक्ति की

पूजा का युग था। पर उस शक्ति पूजा में छल-प्रपंचों का समावेश इस हद तक नहीं हुआ था। उस समय हाथों में बल रखने वाला, तलवार का ज़ोर रखने वाला, सच्चा शूरवीर ही दूसरों पर अधिकार कर पाता था। कायरता से लोग घृणा करते थे, वीरता के सामने नतमस्तक होते थे। तब हरएक में यह उत्साह भी रहता था कि हम वीर हों, बहादुर हों, विद्वान् हों, विज्ञ हों ताकि दुनियाँ में आदर सम्मान प्राप्त करें। आज विज्ञता और विद्वत्ता, बहादुरी और वीरता सब धरी रह जाती हैं। पैसे वाला मूर्ख, निर्धन विद्वान के कंधे पर जुआ रखकर, उसे मनमाने ढंग से चलाता है। मशीनगन का हैंडल हाथ में थामे हुए कायर निहत्थे बहादुर वीरों का शिकार करता और अपने को वीर शिरोमणि समझता है। जिनमें एक पैसा पैदा करने की योग्यता नहीं है, जो पैतृक संपत्ति के अभाव में कौड़ी के चार की दर से बाज़ार में बिकते, वे परिश्रम से पैदा करके उदर-पोषण करने वाले अनेक लोगों को काम करने का शऊर सिखाते हैं।

लेकिन प्राचीनकाल जिसकी लाठी उसकी भैंस का ही काल नहीं था। क्योंकि प्राचीन काल ने ही रामराज्य देखा है, और उसीने समदर्शी अशोक का काल देखा है। शेर और भेड़ को एक घाट पानी पिलाने का दावा अगर कोई कर सकता है तो ये ही। इनके समय में अवश्य ही एक बार ऐसा प्रतीत हुआ था कि दुनियाँ से लाठी और भैंस वाली जंगली प्रथा उठ जायगी। नीति और न्याय को लोग साधारण जीवन में स्थान देंगे। गरीब और दुर्बलों के अधिकारों की रक्षा करना हरएक आदमी अपना कर्तव्य समझेगा। पर मनुष्य के अन्दर जो स्वाभाविक पशुता का अंश विद्यमान है, जो आसुरी वृत्तियाँ अपना अस्तित्व रखती हैं, वे कब

उसे सुमार्ग पर चलने देती हैं। अन्धकार के बीच आलोक की एक किरण की भाँति, समय-समय पर महापुरुषों ने इस गंदी प्रथा की ओर लोगों का ध्यान खींचा, उन्हें न्याय और नीति का उपदेश दिया, पर दुनियाँ ने कभी एकाग्र भाव से उन सदुपदेशों पर अमल नहीं किया। महात्मा ईसा इसी महामन्त्र का जाप करते-करते सूली पर चढ़ गये, और आज अपने को उनका अनुयायी कहने वालों की संख्या अगणित है, पर तथा-कथित अनुयायियों में उनका यथार्थ अनुकरण करने वाले चिराग लेकर ढूँढने से भी शायद ही मिलें। उनके अनुयायियों में अधिकांश जिसकी लाठी उसकी भैंस के सिद्धान्त को ही अपने आचरण में प्रत्यक्ष करते हैं। स्वयं बनाई हुई लीग ऑफ नेशन्स को स्वयं दफनाकर इन ईसाई जातियों ने इस सिद्धान्त की सत्यता सिद्ध कर दी है। हिटलर और मुसोलिनी की हर एक दहाड़ में, प्रत्येक क्रिया में, यही सिद्धान्त गूँजता है।

मनुष्य अपने स्वभाव से लाचार है। यद्यपि उसने उन्नति कर ली है, वह सभ्य और संस्कृत हो गया है, तथापि अपने अन्दर की पशुता पर विजयी नहीं हो पाया है। जानवरों की तरह कमज़ोरों के स्वत्वों को आत्मसात् करने की इच्छा तथा प्रवृत्ति को वह दमन नहीं कर पाया है। वह अपनी विद्या-बुद्धि का कितना ही गर्व करे, उसे अधिकार है, पर उसका न्याय-नीति का दावा करना सर्वथा असत्य और अनधिकार चेष्टा है। इस ओर एक दो सीढ़ियाँ चढ़ने का जब उसने प्रयत्न किया तो फिसल कर और भी गहराई में जा पड़ा; आज का युग उसकी असफलता की घोषणा खुले-आम कर रहा है।

विद्यार्थियों का अपने देश के प्रति कर्तव्य

इस समय भारत पराधीन देश है। इसलिए अपने देश को अपना कहने का साहस भी बहुतों में नहीं दिखाई पड़ता। ऐसे लोग शासक-वर्ग की मुखमुद्रा के अनुसार अपने कर्तव्यों का रूप स्थिर करते हैं। जिस बात से उनके मुख पर शाबाशी का भाव दिखाई पड़े, वही करना और वही कहना वे वेदशास्त्रानुमोदित मानते हैं। जिस कार्य से उनके ललाट पर बल पड़ने की संभावना होती है, उसे वे गर्हित और त्याज्य मानने में सकुचाते नहीं। ऐसे ही लोगों की मान्यता है कि विद्यार्थी और देश दो विरोधी सिरे हैं, जिनका सम्मिलन नहीं हो सकता। इसलिए विद्यार्थियों का अपने देश के प्रति कोई कर्तव्य हो सकता है, यह बात सोचना भी असंगत है। पर ऐसे लोग ईश्वरीय नियम और प्राणी-स्वभाव दोनों की अवहेलना करते हैं, यह प्राकृतिक सिद्धान्त है कि जो देश में जन्मा है, जहाँ रहा-सहा और बड़ा हुआ है, वह देश अन्य देशों की अपेक्षा उसे अधिक प्रिय होता है। तभी तो मरुस्थल या हिमानी प्रदेशों के रहने वाले भी अपनी जन्मभूमि के प्रति उतने ही सुकुमार भाव रखते हैं, उतने ही कोमल गीत गाते हैं, जितने हरेभरे और उर्वर प्रदेशों के लोग। यही क्यों, पशु-पक्षियों और

वृक्षों तक में स्वदेश-प्रेम देखा जाता है। हिमालय के याक को किसी ने गंगा-यमुना के दोआब में क्रीड़ा करते देखा है ? आप दरभंगा की अमराई से एक आम के पौधे को लेकर दार्जिलिंग के शिखर पर भले ही लगा दें, पर क्या वहाँ वह उसी तरह प्रसन्न और पुष्पित होगा ? इसलिए विद्यार्थियों का महान से महान जो कर्तव्य होना चाहिए वह देश के प्रति हो। वे अपने उद्धार के लिए चाहे विद्योपार्जन करें या न करें, पर देश के उद्धार के लिए उन्हें विद्योपार्जन करना ही चाहिए। उन्हें अपने स्वार्थों को देश के स्वार्थों का विरोधी नहीं समझना चाहिए। उन्हें अपनी विद्या से यह सद्बुद्धि लेनी चाहिए कि देश हमारा परम चिन्तनीय विषय है। जहाँ हमारे और देश के स्वार्थों में विरोध का अवसर आ जाय, वहाँ देश के स्वार्थ को तरजीह देने में ही हमारी विद्या-बुद्धि की सार्थकता है। महात्मा गांधी का कथन है कि हमें पहले "देश के राजनीतिक जीवन और संस्थाओं में धार्मिकता अर्थात् कर्तव्य-भाव को मिला देना होगा। उस समय विद्यार्थी लोग राजनीतिक बातों से भाग न सकेंगे, उनके लिए राजनीति भी उतनी ही आवश्यक है जितना कि धर्म (कर्तव्य) आवश्यक है।" अतः विद्यार्थियों के लिए अपना देश न तो अपरिचित और अजनबी रहना चाहिए, और न उन्हें देश-संबंधी जानकारी से अनभिज्ञ रहना चाहिए। क्योंकि जिससे परिचय नहीं होगा, उसके प्रति वे क्या कर्तव्य-पालन कर सकेंगे ?

संप्रति भारतीय विद्यार्थियों में देश के प्रति कर्तव्यभावना के अभाव का कारण ऊपर लिखा गया है। इसका एक दूसरा कारण भी है, और वह है शिक्षाप्रणाली। हमारे प्राचीन तत्वदर्शी ऋषियों ने शिक्षा का चरम उद्देश्य आत्मज्ञान बताया था। उसके अभाव

में ज्ञानभंडार पर अधिकार कर लेना भी गधे का पुराण ढोने के बराबर ही माना था। एक आधुनिक तत्वदर्शी मिस्टर हक्सले का भी कहना है कि, "चरित्र-गठन और उसका विकास करना ही शिक्षा का उद्देश्य है।" पर आजकल हम लोगों ने शिक्षा को जीविका का साधन बना रक्खा है। फलतः हमारे विद्यार्थी विदेशी सरकार रूपी मशीन को चलाने के लिए पुरजे बनकर निकलते हैं। विद्यार्थी-जीवन में देश की आत्मा के दर्शन करने को उन्हें अवसर कहाँ? और जीवन में प्रवेश कर लेने पर अपनी उदरपूर्ति के कठिन परिश्रम में लग जाना पड़ता है। वर्तमान लंबी जीवनयात्रा में देश के लिए कहीं स्थान नहीं है।

यह अवस्था बड़ी शोचनीय और दयनीय है, पर इसे मिटाना होगा और विद्यार्थियों को उसी प्रकार अपने देश के प्रति कर्तव्यों को जानना होगा, जिस प्रकार वे माता-पिता के प्रति कर्तव्यों का ध्यान रखते हैं। माता ने हमें पैदा किया, दूध पिलाया और पाल-पोसकर बड़ा किया है। पिता ने हमें अपने प्यार और दुलार की छाया में रक्खा है, कोई कष्ट नहीं होने दिया। इसीलिए न कि उनके प्रति हमारे कुछ कर्तव्य—और पवित्र कर्तव्य हैं? हमारी जननी जन्म-भूमि ने भी तो अपने अन्न-जल से हमारे शरीर का पोषण किया है, उसी की पावन गोद में हम खेल-खेलकर बड़े हुए हैं, उसी के जलवायु से हमारा यह शरीर नीरोग और स्वस्थ रहता है, तो क्या हमारा उसके प्रति कुछ भी कर्तव्य नहीं है? क्या उसके कष्ट और सुख-दुख के प्रति हमें एकदम उदासीन रहना चाहिए? कदापि नहीं, वह तो हमारे लिए माता-पिता से भी बढ़कर पूज्य है, पितामह और मातामही से भी अधिक आदर की वस्तु है, क्योंकि उसके न केवल हमीं ऋणी हैं, वरन् हमारे माता-पिता,

पितामह और मातामही भी हैं। उसने युगयुगान्तर से हमारे पूर्वपुरुषों को अपने वक्षःस्थल पर धारण किया है, उनका लालन-पालन किया है, उन्हें सब प्रकार की सुविधाएँ दी हैं।

हमारी जब जो इच्छाएँ थीं हमारे पिता और पितामह की जो आवश्यकताएँ थीं, उन्हें हमारी जन्मभूमि ने पूर्ण किया है। इसलिए हमारा सर्वप्रथम कर्तव्य है कि हम अपने देश की आवश्यकताओं का ज्ञान प्राप्त करें, उसके अभावों पर ध्यान दें, और उनकी पूर्ति में अगर हो सके तो अपने जीवन को उत्सर्ग करने से बाज़ न आएँ। विनय और कर्तव्यपालन तो विद्यार्थियों का विशेष धर्म है। गृहस्थी के जंजाल में फँसे हुए लोगों से न देश को बहुत आशा ही हो सकती है और न वे उसके आह्वान का प्रत्युत्तर ही पूरी तरह दे सकते हैं। प्रत्येक देश के नौजवान विद्यार्थी ही उसके भाग्यविधाता होते हैं, उन्हीं की ओर देश की आँखें लगी रहती हैं। यदि विद्यार्थी ही यह पूछने लगें कि हमें अपने देश के लिए क्या करना चाहिए तो उत्तर देने का भार न्यायतः किसके सिर होगा?

गाय से कौन कहने जाता है, कि बछड़े को दूध पिलाना उसका धर्म है। चन्द्रमा से कौन कहने जाता है कि नियत समय पर उदित होकर दुनियाँ के नेत्रों को शीतल करना उसका कर्तव्य है? फिर विद्यार्थियों से कौन कहने आए कि देश के सुख-दुःख का उत्तर-दायित्व उनके ऊपर है? अपने नैसर्गिक कर्तव्यों तथा अधिकारों का ज्ञान प्रत्येक को स्वतः होना चाहिए। वह देश और वे विद्यार्थी दोनों भाग्यहीन हैं, जहाँ परस्पर के कर्तव्यों और अधिकारों का ज्ञान किसी तीसरे को कराना पड़ता है। स्वतन्त्र देशों में तो वातावरण ही ऐसा होता है, कि कर्तव्य और अधिकारों का ज्ञान विद्यार्थियों को श्वास-प्रक्रिया के साथ होता रहता है। पराधी

भारत में देश का नाम लेना प्लेग के कीटाणुओं के संसर्ग में आने के सदृश गिना जाता है।

सोचने की बात है कि यदि विद्यार्थी ही शिवाजी और प्रताप, बन्दा वैरागी और मीरकासिम बनने के स्वप्न नहीं देखेंगे तो और कौन देखेगा? गोखले बनकर देश का हित-चिन्तन उन्हीं को तो करना है। तिलक बनकर देश के उद्धार का बीड़ा वही तो उठाने वाले हैं। मालवीय बनकर विद्या की गहरी नींव उन्हीं को तो खोदनी हैं। राममोहनराय बनकर सामाजिक-संस्कार का कार्य-भार कौन सँभालेगा? देश को ग़रीबी के प्रेत से बचाने की शक्ति किस में है? कौन अज्ञान का अँधेरा हटाकर ज्ञान का स्वर्णालोक फैलाएगा? गांधी और नेहरू के बताए हुए कंटकाकीर्ण पथ को निष्कंटक राजमार्ग में परिवर्तित करने का ठेका सिवा विद्यार्थियों के और कोई नहीं ले सकता, किसी में वैसी क्षमता और योग्यता नहीं है।

न देश कोई हौवा है, न देशप्रेम कोई बीमारी। विद्यार्थियों को उनसे भयभीत न होना चाहिए। देश के प्रति कर्तव्य पालन करने में अगर राजनीति बीच में आती हो तो भी कर्तव्यपूर्ति से विचलित नहीं होना चाहिए। कर्तव्य कभी फूलों की सेज नहीं होता। सरल कर्तव्य पत्थर से अधिक कठोर होता है। पर उसकी कठोरता से डरने वाले को कर्तव्यपरायणता के यश की पुष्पमाला प्राप्त नहीं होती। देश के प्रति कर्तव्य-पालन करना तो कठोरतर कार्य है—और भारत की वर्तमान स्थिति में तो कठोरतम है। आशा है इस सर्वोच्च परीक्षा में देश के विद्यार्थी अवश्य उत्तीर्ण होंगे। उन्हीं की ओर सबकी आँखें लगी हैं।

कारज धीरे होत है काहे होत अधीर

जितने काम हैं धीरज से ही अच्छे होते हैं । व्यग्रता प्रत्येक कार्य को बिगाड़ डालती है। कहा भी है कि जल्दी का काम शैतान का होता है । जिसमें धैर्य नहीं वह थोड़ी सी बात में ही घबरा जाता है और जब तक कार्य पूर्ण हो उस समय की प्रतीक्षा में संतोषपूर्वक बैठा नहीं रहता। कार्य विशेष की पूर्ति के लिए समय की विशेष मात्रा दरकार होती है, पर व्यग्र स्वभाव वाले लोग अधीर हो उठते हैं, और उतना समय लगाना नहीं चाहते। फल यह होता है कि उनका काम कभी बनता नहीं। उन्हें अपने उद्देश्य में कभी सफलता प्राप्त नहीं होती। ऐसे ही लोगों को लक्ष्य करके नीतिकारों ने लिखा है कि "माली सींचै सौ घड़ा ऋतु आये फल होय।" अगर ऐसा होता कि व्यग्रता करने से भी कोई कार्य स्वाभाविक होता, तो फलों के लिए एक विशेष ऋतु की प्रतीक्षा क्यों करनी पड़ती। जल से सींच देने और अधिकाधिक खाद दे देने से ही अभिलाषा पूर्ण हो जाती, पर नहीं माली के हज़ार घड़ा पानी और सौ गुनी खाद देने पर भी बिना समय से कुछ नहीं होता । यही प्राकृतिक नियम है । इस के विपरीत कुछ हो ही नहीं सकता।

माता के उदर में बच्चे को नौ महीना रहना पड़ता है, यह प्राकृतिक नियम है। यदि अवधि पूर्ण होने से पूर्व बच्चे की उत्पत्ति

होती है, तो वह अस्वाभाविक है और उसका परिणाम बड़ा खतरनाक होता है। बच्चे और माता दोनों का जीवन, इस असामयिक घटना के फलस्वरूप, विपत्ति में पड़ जाता है।

एक चित्रकार व मूर्तिकार को लीजिए, और देखिए वे कितने धैर्य और संलग्नता से अपने काम में लगे रहते हैं। यदि वे तनिक भी ऊब जाँय, और शीघ्रता के कारण उनका हाथ ज़रा भी बेकाबू हो जाय, तो उनकी महीनों और वर्षों की करी-कराई तमाम मेहनत पर पानी फिर जाय। वास्तव में सच्चा कलाकार वही होता है जो योगियों की समाधि के से मनोयोग के साथ अपनी साधना में लीन रहता है और तभी अमर-कृति पुरुषों की श्रेणी में बैठने का उसे सुयोग प्राप्त होता है। जो अधीर है, व्यग्र है उसके आरंभ किए हुए कार्य पूर्ण होने ही मुश्किल होते हैं, और यदि किसी समय पूर्ण हो भी जाँय तो उनमें वह सौंदर्य और वह मार्मिकता नहीं होती। हो भी कहाँ से, जहाँ मनोयोग का अभाव रहा है, हृदय की समस्त चितवृत्तियों से काम नहीं लिया गया है, जहाँ कार्य को किसी तरह शीघ्र से शीघ्र पूरा करके भारमुक्त होने ही का भाव विद्यमान है, वहाँ सौंदर्य का अस्तित्व हो ही कैसे सकता है ? गृहिणी, माता अथवा बहन के हाथ के भोजन में, रूखा-सूखा होने पर भी, कितना आनन्द और स्वाद आता है ? होटल के, या नौकरों के परोसे हुए, षड्रस व्यंजनों में भी क्या वही स्वाद आता है ? कदापि नहीं। आए भी कैसे ? माँ और बहन की चितवृत्तियों का समस्त रस भी तो उसके प्राकृतिक स्वाद को, अनन्त गुना कर देता है। नौकर के पकाये भोजन में उसे ढूँढना व्यर्थ है। कला का आधार प्रेम और सौहार्द्र है। पैसे के लिए कला या सौंदर्य की उत्पत्ति नहीं होती। क्योंकि कला और सौंदर्य अनन्त साधना के फल हैं।

माइकेल ऐंजेलों एक बार एक मूर्ति तैयार कर रहा था। उसी समय उसका एक मित्र उससे मिलने आया। कुछ दिन बाद वही मित्र फिर आया और तब भी ऐंजेलो उसी मूर्ति में लगा हुआ था। उसके मित्र ने मूर्ति की ओर देखकर कहा, "आप लगे तो उसी मूर्ति में हैं, पर पहले से तो इसमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं मालूम होता। शायद आपने कुछ किया नहीं है?" शिल्पकार ने उत्तर दिया, "किया क्यों नहीं, मैंने इस भाग पर फिर से हाथ फेरा है, और इस भाग को चिकनाया है। इस स्नायु को कम किया और इसको बनाया है। इस अधर को अधिक भाव-सूचक किया है और इस अवयव के सौष्ठव को सुधारा है।" मित्र ने कहा, "यह तो ठीक है, पर ये सब छोटी छोटी बातें हैं।" ऐञ्जिलो उत्तर दिया, "ऐसा भले ही हो पर याद रक्खो कि बहुत सी छोटी-छोटी बातों से ही एक बड़ी बात बनती है और एक बड़ी बात छोटी बात नहीं है।" ऐंजेलो का कथन बिलकुल ठीक था कि हर एक कार्य धीरे-धीरे ही होता है। धीरे-धीरे, और मनोयोग पूर्वक, करने ही से किसी कार्य में उत्तमता और परिपूर्णता का समावेश होता है।

मनुष्य प्रत्येक वस्तु में दो बातें खोजता है, एक सुन्दरता और दूसरी उपयोगिता। यही मानो उसकी प्रत्येक कार्य के लिए परिपूर्णता की कसौटी है। इनका समावेश अधीर पुरुष के हाथों कभी हुआ हो, ऐसा देखा नहीं गया। कोई भी कार्य, कोई भी वस्तु जिसमें उपर्युक्त दो या उनमें से कोई एक गुण भी विद्यमान हो तो वह इस बात की प्रत्यक्ष प्रमाण होगी कि उसके निर्माण में धैर्य और मनोयोग से काम लिया गया है।

अधीर युवक अपने रोगी भाई की चारपाई पर सिर रखकर

निराशाजनक स्वर में रोता है कि हाय यह कैसे अच्छा होगा? बीमारी ने तो इसके स्वास्थ्य को धीरे-धीरे खा लिया है। परदेश में मेरा एक-मात्र यही सहारा है। मैं माता-पिता को क्या उत्तर दूँगा। इस दवाई से तो बीमारी चींटी की चाल से भी इससे दूर नहीं होती। जब कि धैर्यवान वृद्ध अपने घर में आग लग जाने पर और कुआँ दूर होने पर भी हिम्मत नहीं हारता; अधीर नहीं होता। बड़ी तत्परता से घड़े पर घड़े लाकर आग में डालता है।

ऊपर के दो उदाहरण यह बतलाने के लिए पर्याप्त हैं कि अधीर युवक के भाई का क्या होगा? तथा धैर्यवान वृद्ध के घर में कुछ शेष बचेगा कि नहीं? निश्चय ही अधीर युवक चींटी की चाल से बीमारी को हटानेवाली दवाई के परिणाम की प्रतीक्षा नहीं करेगा। फलतः काम और बिगाड़ देगा। भाई को भी संभव है खो बैठे। जब कि लगन का पक्का बुड्ढा हिम्मत न हार कर बराबर कुएँ से पानी लाता रहेगा और आग में झोंकता रहेगा। अगर तेज़ आग है तो भी कुछ न कुछ तो वह कम होती ही रहेगी, और अगर साधारण है तो बुझ ही जायगी। और यह भी संभव है कि थोड़ी देर में उसकी सहायता को भी कोई आ पहुँचे। कहा भी है कि परमात्मा उनकी सहायता करता है जो अपने कार्य में तत्पर रहते हैं।

अतः अधीरता और व्यग्रता को अपने पास फटकने नहीं देना चाहिए, क्योंकि उनका संसर्ग कार्य की पूर्ति में बाधक होता है। जितने कार्य परिपूर्ण और सफल दृष्टिगोचर होते हैं, उनके पोषण में धैर्य का सुधासिंचन अवश्य हुआ है। उनकी परिपूर्णता और सफलता ही इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। इससे यह भी तात्पर्य नहीं है कि कार्य करने में कछुए की गति का अनुसरण किया

जाय। वह तो आलस्य होगा। अपने बल के अनुसार स्वाभाविक त्वरा तो प्रत्येक कार्य के लिए अपेक्षित है, पर त्वरा के साथ व्यग्रता को एक आसन पर बैठाना, या त्वरा का स्थान व्यग्रता को दे देना ही हानिकर है। त्वरा स्वस्थता की परिचायक है, व्यग्रता विकार की मूर्ति है। दोनों को एक समझना भ्रान्ति है।

बनने की सीमा पर आये हुए कार्य बिगड़ जाते हैं, उनका उत्तरदायित्व त्वरा पर नहीं, इसी व्यग्रता और अधीरता के कंधों पर है। त्वरा अपने हाथों से बैलेंस बिगड़ने नहीं देती, वह तो हमारी शक्ति और पहुँच के सहयोग को लेकर अग्रसर होती है। अधीरता सब तरह का अवलंब त्याग कर, बुद्धि, शक्ति और विवेक का हाथ छोड़कर, अन्धी होकर दौड़ती है। उसका परिणाम औंधे मुँह गिरने के सिवा और हो ही क्या सकता है? इसलिए चलो, सब लोग अपने समय-विभाग के ऊपर यह मोटो लिख रखें कि "कारज धीरे होत है, काहे होत अधीर" ताकि कभी व्यग्रता के चक्कर में पड़कर अपनी सफलता को सन्दिग्ध न होने दें। हर समय दृष्टि में रहने से यह आदर्शवाक्य कर्तव्यपूर्ति में सहायता करेगा। जीवन के जटिल पथ पर जाने के लिए यह एक शुभ और अनुकूल ग्रह से कम नहीं है।

निज कारण दुख ना सहो, सहो पराये काज

जो जितना बड़ा है उसके सिर पर उतनी ही भारी ज़िम्मेदारी होती है, यह मानी हुई बात है। ईश्वर चराचर जगत का स्वामी है। उसी से यह आशा भी की जाती है कि वह सब की खबर ले। दुनियाँ भर का भार उसी के कन्धों पर है। इसी तरह मनुष्य समस्त प्राणियों में बड़ा है। उसकी समता विद्या-बुद्धि, धन-वैभव, शक्ति-सामर्थ्य में और कोई दूसरा प्राणी नहीं कर सकता। इसकी ज़िम्मेदारी भी स्वभावतः और सब प्राणियों की अपेक्षा अधिक है। अपने पद के बड़प्पन की रक्षा के लिए उसे शेष प्राणिसमाज के सुख-दुख का उत्तरदायी होना ही पड़ेगा। अपने इस उत्तर-दायित्व से वह तब तक भाग नहीं सकता जब तक वह किसी दूसरे को अपना स्थानापन्न नहीं बना देता। यह नहीं हो सकता कि वह मनुष्यत्व का तो दावा करता रहे, और अपने स्वार्थ में ही लगा रहे। भला जिसमें परोपकार की भावना का पशुओं की तरह अभाव हो उसे मनुष्य कौन कहेगा ?

मनुष्य शब्द के साथ समाज जुड़ा हुआ है। बिना सामाजिकता के मनुष्यता की कल्पना ही नहीं हो सकती। यह सामाजिक भावना ही हमें बताती है कि मनुष्य के कर्तव्य पशु-पक्षियों से भिन्न और व्यापक हैं। उसका काम स्वार्थ की संकुचित नीति से नहीं चल सकता। पशु-पक्षी तो केवल अपने लिए ही जी सकते हैं,

पर मनुष्य की मनुष्यता इसी में है कि वह दूसरों के लिए जीना सीखे। अपने लिए दुःख सहना तो कोई प्रशंसा की बात नहीं है; जो दूसरों के लिए दुःख सहता है वही यथार्थ में प्रशंसनीय है। हम रामचन्द्र का इतना आदर क्यों करते हैं? हम कृष्ण को आदर्श पुरुष क्यों मानते हैं? हम बुद्ध की पूजा क्यों करते हैं। इसीलिए न कि उनमें दूसरों के लिए दुःख सहने की महान क्षमता थी। वे हमारे सामने परोपकार के कितने उच्च आदर्श रख गये हैं?

परिवार का जो बड़ा-बूढ़ा होता है, उसी का आदर-मान सबसे अधिक हुआ करता है। इसका कारण क्या है? यही कि उसी को सब लोगों के सुख-दुख की चिन्ता रहती है। बाकी सब लोग तो दिन में मजे से हँसते-खेलते हैं और रात को पैर फैलाकर सोते हैं, क्योंकि उनके सिर पर कोई दायित्व नहीं है। इसके विपरीत बड़े-बूढ़े को बात-बात की फिक्र सताती रहती है। उसके कष्टों की गिनती नहीं है। इन कष्टों से अगर वह चाहे तो अनायास मुक्ति पा सकता है, क्योंकि वह जो कुछ कष्ट उठाता है अपने लिए नहीं। लेकिन अगर वह ऐसा करने लगे तो उसका आदर-मान कहाँ रहे? उसका सारा महत्व तो दूसरों के लिए दुःख उठाने में ही है।

कुछ लोग कहते हैं कि 'जो सब के हित में तत्पर रहते हैं वे किसी के भी हितसाधन में सफल नहीं हो पाते।' उनका आशय परोपकार से बिलकुल दूर हो जाने का तो नहीं होता पर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' को वे अव्यवहार्य बताते हैं। वे यह कहते हैं कि अपने निकटवर्ती लोगों के उपकार में लगना ज्यादा अच्छा है। तब हम उन्हें कुछ लाभ भी पहुँचा सकेंगे। अगर दुनियाँ के हित-साधन का ठेका अपने सिर पर ले लेंगे तो न तो हम उसे पूरा कर पायेंगे और न अपने पड़ोसियों के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करेंगे।

लेकिन जो उपकार करने चले वह क्या अपनों तक ही अपने उपकार की सीमा रक्खेगा ? तब तो उसका उपकार ही नहीं होगा। उपकार का क्षेत्र तो 'स्व' से बहुत आगे है। तभी तो ईसामसीह ने कहा है—'तेरा पड़ोसी वही है, जिसके साथ तू उपकार करे।'

अगर ऐसा न माना जाय तो दुनियाँ में एकान्त स्वार्थी कोई मिलेगा ही नहीं। चोर और डाकू भी तो केवल अपने लिए चोरी और डकैती नहीं करते। वे भी अपने बाल-बच्चों और प्रियजनों के उदरपोषण का ध्यान रखते हैं। उनकी रक्षा के निमित्त ही वे यह सब कुकृत्य करते हैं। तो उन्हें भी क्यों न परोपकारी कहा जाय ? वास्तव में परोपकार का क्षेत्र वहाँ से आरंभ होता है जहाँ स्वकीयता का अन्त हो जाता है। जहाँ तक परिचय और अपनापन है वहाँ तक सोने की वर्षा करना और अपना रक्त बहाना थोड़ी सी उदारता भले ही हो पर परोपकार नहीं है। यही क्यों, स्वार्थबुद्धि से किया गया परोपकार भी स्वार्थ ही माना जाता है। इसलिए परोपकार में अपनापन और स्वार्थभावना का एकदम त्याग होना चाहिए।

हमें परार्थ का अपना दृष्टिकोण इसलिए व्यापक करना चाहिए कि अपनी रक्षा कुटुंब से है, कुटुंब की रक्षा जाति से है, जाति की रक्षा देश से है, देश की रक्षा मनुष्य जाति की रक्षा से है और मनुष्य जाति की रक्षा दुनियाँ के कायम रहने से है। इसीलिए हमारा प्राणी-मात्र के लिए दुःख सहन करना, उनके हितों में प्रयत्नशील होना ही एक आदर्श होना चाहिए। दुनियाँ में महापुरुषों के ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिन्होंने कुटुंब के हित को देश के ऊपर बलिदान कर दिया है। रोम राज्य की रक्षा के लिए वहाँ के एक कांसल ने अपने एकलौते पुत्र को मृत्युदंड की आज्ञा दी थी। कार्थेज की रक्षा के लिए जहाज़ों के रस्से बनाने के हेतु वहाँ

की स्त्रियों ने अपने सुन्दर बाल कतर दिये थे। उदयसिंह की रक्षा के लिए पन्ना ने अपने पुत्र का बलिदान करा दिया था और एक आँसू नहीं गिराया था। इससे भी आगे बढ़कर महात्मा ईसा ने मनुष्य जाति के कल्याण के लिए अपने आपको शूली पर चढ़वाया था, भगवान् बुद्ध ने प्राणीमात्र को अपने दृष्टि-कोण के भीतर रक्खा था। उनकी महान तपश्चर्या का उद्देश्य केवल मनुष्य-जाति की ही सुख-संपन्नता नहीं थी, वरन् अखिल जीवधारियों की।

यों तो सदा से ही स्वार्थ और परार्थ का युद्ध चला आया है। स्वार्थ का फल, तात्कालिक-लाभ, आदमियों के ऊपर जल्दी मोहनी डाल देता है। आपने जाकर कुछ करेंसी नोट न्यायाधीश की जेब में डाल दिये, तत्काल मुकद्दमे का फैसला आपके पक्ष में हो गया। लेकिन परार्थ का फल न तो इतनी जल्दी मिलता है और न इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से। यह तो 'नेकी कर और कुएँ में डाल' है। इसलिए दुनियाँ में अगर स्वार्थ का ही बाज़ार गरम देख पड़े तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। एक बात और है। आज-कल की सभ्यता स्वार्थ की पूजा भी करती है। प्राचीनकाल में जहाँ परोपकार और आतिथ्य परम-धर्म माने जाते थे, वहाँ आज उन्हें फिज़ूल-खर्ची और मूर्खता समझा जाता है। इसीलिए आज-कल भोगविलास की ओर लोगों की इस कदर रुचि है। सादगी और सरलता को कोई जानता ही नहीं। सारा धनवैभव अपने उपयोग में ही लगा लेने की चेष्टा बलवती हो रही है।

आज भी जो यह जानते हैं कि दुनियाँ के हित में ही हमारा हित है, इन भोगविलास और स्वार्थ-साधना से कभी आत्मा को शान्ति और सन्तोष नहीं मिल सकते, वे अब तक दूसरों के लिए जीते और दूसरों के लिए मरते हैं। वे स्वार्थ के तात्कालिक फल

के क्षणिक आनन्द में नहीं भूलते। वे तो परोपकार के चिरस्थायी सन्तोष से ही तृप्ति पाते हैं। उनका प्रत्येक कार्य संसार की कल्याण-कामना से प्रेरित होता है। जब स्वयं पृथ्वी के प्रयत्न सृष्टि की रक्षा के लिए हैं, जब सूर्य का उदय और अस्त संसार-संचालन में योग देने के लिए ही है, जब पवन और बादल अपने निजी स्वार्थों के लिए कष्ट सहन नहीं करते, जब वृक्ष और लताएँ परोपकार में ही सुख मानते हैं, जब पशु-पक्षियों में भी इस वृत्ति का विकास देखा जाता है, तब मनुष्य ही उससे अपने को वंचित किस प्रकार करे। जड़ और चेतन प्रकृति और प्राणियों से मनुष्य को ऊँचा आदर्श सामने रखना पड़ेगा। वह अपने को उच्च और सब से समर्थ समझता है तो उसकी रक्षा का भार भी उसी पर है।

इसके अतिरिक्त दूसरों के लिए कष्ट सहन करने में जो मानसिक संतोष और सुख होता है वह अपूर्व है और वही मनुष्य को परार्थ में लगाने के लिए काफी है। दूसरे उदाहरणों और धर्मशास्त्र के उपदेश वाक्यों की इसके लिए कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। अपनी अन्तरात्मा जिस काम के करने में उच्चता और गौरव माने वही परम धर्म है। और यह तमाम दुनियाँ के अनुभव की बात है कि परदुःख-कातर शिवि और दधीचि की तरह दूसरों के कष्ट के लिए अपने प्राणों को तृणवत् समझनेवाले; इस उच्चता और गौरव का मूल्य समझते थे। यदि ऐसा न होता दूसरों के लिए महान से महान त्याग वे हँसते-हँसते कैसे कर जाते? इस अमूल्य अध्यात्मिक आनन्द से परोपकार की मूर्ति सदा प्रकाशमान है। ज्ञान और तर्क का दीपक जलाकर उसे प्रत्यक्ष करने की कोई ज़रूरत नहीं है।

पिक भी कारो काग भी कारो
भेद नाहिं दोनों में कोऊ,
ऋतुपति के आते आते ही
कागा काक पिका पिक होऊ।

सच है, मूर्खता और विद्वत्ता का साइनबोर्ड तो किसी के चेहरे पर लगा नहीं होता। न मूर्ख के सींग-पूँछ जैसी कोई विशेषता होती है, जिससे विद्वान् वंचित रहता हो। मतलब यह है कि देखने में दोनों समान होते हैं। कौवा और कोयल दोनों ही पक्षी हैं। रंग में तो गहरी समानता है। इस दृष्टि से उनमें कुछ भी भेद नहीं है। पर अवसर आते ही उनका भेद खुल जाता है। जहाँ वसन्त का आगमन हुआ कि कोयल को कौवे से पृथक् समझने में कोई कठिनाई नहीं पड़ती। कोयल का मीठा-रसीला कंठस्वर उसके अस्तित्व की साफ़ गवाही देता है। कौवा कोयलों में तभी तक खप सकता है जब तक वह अपने कंठ को न खोले। वाणी उन दोनों के भेद को बताने के लिए काफी है। कौवे और कोयल की भाँति मूर्ख और विद्वान् का विवेक भी उनकी वाणी द्वारा होता है। जब तक वे बोलते नहीं तभी तक उनमें समानता है। जहाँ उनकी वाणी श्रोताओं के कानों तक पहुँची कि मूर्ख और विद्वान का अन्दाज़ा लग जाता है।

वाणी मनुष्य के हृदय-कमल का सौरभ है। जिसका हृदय जितना ही शुद्ध, निर्मल और सुगन्धित होगा उसकी वाणी का सौरभ भी उतना ही हृदयहारी होगा। जिसकी विचारधारा जितनी ही स्वच्छ और गंभीर होगी, उसकी वाणी उतनी ही नपी-तुली और यथार्थता की तह तक पहुँचने वाली होगी। सुनते ही लोग उसके ऊपर श्रद्धा और विश्वास करने लगेंगे। उसे अपना विज्ञापन करने की आवश्यकता न होगी, न उनके लिए किसी दूसरे को डौंडी पिटवानी पड़ेगी। वह यदि एकान्त में भी बैठ जायगा और अपनी कथा आरंभ कर देगा तो, हरिण की कस्तूरी की तरह, दुनियाँ उससे स्वतः परिचित हो जावेगी। स्वामी विवेकानन्द ने अमरीका की गलियों में कब अपनी विद्वत्ता और वाक्पटुता का विज्ञापन किया था? अपरिचित अज्ञात देश में उन्हें कौन जानता था? उन्हें न जाने; पर उनकी अमृतवर्षिणी वक्तृता को तो सब जानते थे! उससे कोई अपरिचित न था। वह तो सीधी श्रोताओं के हृदय के भीतर चली जाती थी, क्योंकि मनुष्य की वाणी ही तो उसका सर्वोत्तम परिचय है। कारण, कि विचारधारा ही तो मनुष्य का व्यक्तित्व है और उस विचारधारा प्राण का शरीर वाणी है। उनकी वाणी द्वारा जमाई हुई विद्वत्ता की छाप अब तक दुनियाँ में कायम है।

उधर गला फाड़-फाड़ कर चिल्लाने वालों की दुनियाँ में कमी नहीं है। 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे' कहकर गोस्वामी जी ने ऐसे ही उद्भट वक्ताओं की ओर संकेत किया था। उनका काम ही गला फाड़ना है। सुबह को, शाम को, सड़क पर, चौराहों पर, जहाँ चार आदमियों को खड़ा देखा वहाँ अपना वक्तव्य आरंभ कर दिया। किसी दूसरे नगर में किसी आवश्यक कार्य से पहुँच गये तो

लगे-हाथों एक विज्ञापन छपवाकर बँटवा दिया। वहाँ भी प्लेटफार्म पर उछलने, कूदने और दहाड़ने लगे। विद्वता का ठेका ही तो इन्होंने ले रक्खा है। इनके गर्जन को संसार को मूर्ख समझने का स्वत्वाधिकार प्राप्त है और यह उसे भरसक काम में लाने को सदा कटिबद्ध रहते हैं। फिर भी घर से वाहर कदम दीजिए, इन्हें कोई नहीं जानता। किसी की श्रद्धा को इन्होंने अपनी अमूल्य सेवा द्वारा खरीद नहीं पाया। क्या दुनियाँ अंधी और वहरी दोनों हैं। क्या वह सदा इसी उपेक्षा और कृतघ्नता का बर्ताव करती है? नहीं, ऐसा तो नहीं है। दुनियाँ इन 'अपने मुँह मियाँ मिठुओं' को खूब पहचानती है। यदि न भी पहचाने तो श्रद्धा और भक्ति, प्रेम और पूजा इतने सस्ते और तुच्छ नहीं हैं कि जहाँ-तहाँ लुटाये जाँय।

विद्वान अपनी वोली से ही पहचान लिए जाते हैं। वे छिप ही कैसे सकते हैं? क्योंकि 'कहिव सुनिबो देखिबो रसिकन को कछु और'। उनका वाणीविलास कुछ अपूर्व ही होता है। मिश्री की मिठास ज़बान पर रखते ही ज्ञात हो जाता है। तो भी कभी-कभी ऐसे अवसर आ जाते है जब विद्वान और मूर्ख एक ही पंक्ति में पा जाते हैं। उस समय कोकिल की तरह विद्वानों का अस्त्र मौन है। उन्हें चुपचाप अवसर की प्रतीक्षा करनी चाहिए। उचित अवसर आते ही उन्हें अपना वक्तव्य आरम्भ कर देना चाहिए। अवसर से पहिले उन्हें धैर्य रखने की आवश्यकता है। सचमुच अवसर पर आरम्भ किया हुआ वक्तव्य उन्हें उनकी योग्यता के पद पर अवश्य प्रतिष्ठित कर देगा।

बहुधा मूर्खों की मूर्खता उनकी वाचालता में ही प्रकट होती है। यदि वे चुप रहें तो मूर्ख ही काहे के। अपनी अहम्मन्यता के आगे वे बृहस्पति की बुद्धि को तुच्छ समझते हैं। वे इतने क्षुद्र

होते हैं कि अपने से बड़ी या गुरुतर वस्तु की कल्पना ही नहीं कर सकते। विनय से उनका रत्ती भर संबंध नहीं होता। शील को वे जानते ही नहीं। अपनी बुद्धि के क्षुद्र कूप में ज्ञान और बुद्धि की सीमा समझते हैं। तभी तो उन्हें धैर्य नहीं होता। वे अपने तथा-कथित पांडित्य के प्रकाश के लिए प्रत्येक क्षण अधीर रहते हैं। जो बात हलकी, ओछी, टेढ़ी ध्यान में आ जाती है, उसे ही उप-देष्टाओं के अधिकार के साथ सामने वाले आदमी के कानों में ठूँसने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे लोगों के लिए एक हितैषी विद्वान् की सलाह है कि "अपनी विद्वत्ता को जेबघड़ी के समान भीतर की जेब में रक्खो और केवल यह दिखाने के लिए उसे बाहर मत निकालो कि तुम्हारे पास जेबघड़ी है। हाँ यदि तुमसे पूछा जाय तो भले ही कह दो, पर पहरेदार के समान बिना पूछे घंटे मत बजाओ।" लेकिन वे कब मानते हैं? उन्हें तो विधाता से भी अधिक अपनी बुद्धि पर भरोसा होता है।

विद्वानों की मंडली में एक मूर्ख के जा-पहुँचने से उतनी दयनीय परिस्थिति पैदा नहीं होती, जितनी मूर्खों की मंडली में एक विद्वान के पहुँच जाने से होती है। इस बात में ज़रा भी अतिशयोक्ति नहीं है कि एक मूर्ख हज़ार विद्वानों से भी पराजित नहीं किया जा सकता है। पराजित तो वही होता है जो हार माने। मूर्ख तो कभी हार स्वीकार ही नहीं करता। वह पराजित कैसे होगा? लेकिन विद्वान् मूर्खों की मंडली में पहुँच कर सदा हार कर ही आता है। आत्मा चाहे न झुके, पर सिर तो उसका बहुमत के सामने झुक ही जाता है। विद्वान का शील उसे ऐसा करने के लिए बाधित करता है। किन्तु जब तीसरे आदमी के सामने दोनों के उद्गार उपस्थित किये जाते हैं, तो विद्वान ही पुरस्कृत होता है।

पराजित को ही मुकुट दिया जाता है। मूर्खता की धाँधागर्दी तभी तक चलती है जब तक वाणी का सौरभ दिशाओं में व्याप्त नहीं होता।

मूर्ख के लिए मूर्ख बना रहना अनुचित और शोचनीय भले ही हो, पर हानिकर नहीं है। हानिकर तो मूर्ख के लिए विद्वत्ता का आडंबर करना है, अथवा कौवे का हंस बनने की चेष्टा करना है। कारण यह है कि मूर्ख अपने को मूर्ख कहला कर तो दुनियाँ में निभ सकता है। सभी तो विद्वान नहीं हैं। मूर्खों का भी तो समाज है। वहाँ उसके लिए दरवाज़ा खुला है। उसमें आना जाना उसके लिए मना नहीं है। पर जब वह अपने समाज को छोड़कर विद्वत्ता का आडंबर रचता है, खुद जो नहीं है वैसा अपने को प्रदर्शित करने में प्रयत्नशील होता है, तभी अनधिकार चेष्टा करता है। कुछ दिन वह दुनियाँ को कौशल से भुलावा भले ही दे ले पर कभी न कभी उसकी यथार्थ योग्यता का उद्घाटन हो ही जाता है। उसके वाणी और विचार जहाँ जनता के सामने आये वहाँ उसका रूप प्रकट होने में देर नहीं लगती। तब वह दूध की मक्खी की तरह निकाल कर फेंक दिया जाता है; न इधर का रहता है न उधर का। वह स्थिति बड़ी भयंकर और विपदाजनक होती है।

कालिदास की मूर्खता तभी तक गोपनीय रही थी, जब तक उसने अपनी विदुषी स्त्री के सामने मुँह नहीं खोला था। उसके बोलते ही विद्या (कालिदास की पत्नी) को निश्चय हो गया था कि पंडितों ने उससे छल किया है, उन्होंने बदला लेने के लिए एक मूर्ख के साथ उसका संबंध करा दिया है। उसे यह ज्ञात होते ही, अपार क्रोध का दुष्परिणाम कालिदास को सहन करना पड़ा। वे घर से निकाल दिये गये। यदि वे विद्वान बनने का झूठा आडं-

बर न करते तो यह अवस्था क्यों आती ? फिर भी कालिदास उनमें से न थे, जिनके लिए गोस्वामी जी ने कहा है—

फूलहि फलहि न बेंत, यदपि सुधा बरषहिं जलद।
मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलहि विरंचि सम।

वे तो एक ताड़ना मिलते ही सँभल गये। सरस्वती की उनपर कृपा हुई और उनका कायाकल्प हो गया।

अन्त में हम इतना कहकर लेख को समाप्त करेंगे कि कौवा और कोयल, मूर्ख और विद्वान का चाहे एक रंग-रूप हुआ करे, लेकिन उनकी बोली अपने आप ही दुनियाँ में उनका भेद ज़ाहिर कर देती है। किसी दाद की जरूरत नहीं पड़ती। मूर्खों के लिए सबसे सुरक्षित रास्ता यही है कि वे विद्वत्समाज में अपना वक्तव्य आरंभ ही न करें और यह मूल-मंत्र सदा याद रक्खें—

"Give thy ears to many but none thy voice."

माता-पिता के कर्तव्य, बालक के कर्तव्य

दुनियाँ में ऐसा कोई नहीं है, जिसके लिए कुछ कर्तव्यों का विधान न हो। कर्तव्य का सूत्र ही विश्व-ब्रह्मांड का संचालन कर रहा है। स्वयं पृथ्वी का भी एक कर्तव्य है। वह सूर्य की निरन्तर परिक्रमा करके अपने उसी कर्तव्य की पूर्ति में दत्तचित्त है। चन्द्रमा पृथ्वी की प्रदक्षिणा करके अपने कर्तव्य को पूर्ण कर रहा है। समस्त ग्रह, उपग्रह, तारामंडल और धूम्रकेतु किसी महान कर्त्तव्य की साधना में लगे हैं। उनकी नियमित गति, उनकी क्रम-बद्ध कार्यावली ही इस बात की साक्षी है, कि वे निरुद्देश्य संचरण नहीं कर रहे। यही क्यों, वायु की गति और समुद्र का आलोड़न भी तो असमय में नहीं होता। किस समय क्या कर्तव्य है, यह उन्हें बताने की ज़रूरत नहीं पड़ती। भला, वृक्षों से कौन कहने जाता है कि वसन्त का आगमन हुआ, तुम फूलो। कोयल से कौन कहने जाता है कि मधु-ऋतु आई तू कंठ खोल दे, पंचम स्वर में गान होने दे। सब कार्य अनायास ही, अपने आप ही होते हैं। जड़ और चेतन, सभी अपने कर्तव्य का ध्यान रखते हैं। कर्तव्य की ओर से कोई उदासीन नहीं होता और जो होता है उस का अस्तित्व संकट में पड़ जाता है। मनुष्य का कर्तव्य है कि आहार-विहार में संयम से काम ले, यदि असंयम से काम लेगा—अपने कर्तव्य की अवहेलना करेगा—तो निश्चय ही कष्ट भोगेगा।

जब समस्त संसार के लिए कर्त्तव्यों का विधान है, तो माता-पिता भी उनसे बाहर नहीं हो सकते और न बालक ही। यहाँ हम यह देखेंगे कि माता-पिता के बालकों के प्रति क्या कर्तव्य हैं। साथ ही इस बात का भी विचार करेंगे कि बालकों के उनके प्रति क्या कर्तव्य हैं।

प्रत्येक माता-पिता का सर्व-प्रथम कर्तव्य बच्चे का पालन-पोषण करके उसे इस योग्य बनाना है कि वह जीवन-संघर्ष में अपने अस्तित्व की रक्षा कर सके। यदि वे इस कर्तव्य से किसी भाँति विमुख रह जाते हैं, तो बच्चे की शारीरिक संपत्ति का विकास नहीं होने पाता। उसे पद-पद पर कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, और उनका मुकाबला करने की क्षमता न होने से वह सदा हारता और पराजित होता है। यहाँ तक कि अपने अस्तित्व की रक्षा करना भी उसे कठिन हो जाता है। किन्तु वह प्राकृतिक प्रेरणा देखी जाती है कि प्रायः इस प्रथम कर्तव्य की पूर्ति में कोई माता-पिता भरसक कसर नहीं रखते। हरएक का यथाशक्ति यही प्रयत्न होता है कि उनका बच्चा स्वस्थ और नीरोग हो। अभाव की बहुत ही पतित अवस्था में कभी-कभी इसकी उपेक्षा देखी जाती है, और वह प्रायः इसी की सूचक होती है कि माता-पिता को साधनों की कमी है। जो माता-पिता इस प्राथमिक और स्वाभाविक कर्तव्य के पालने में जानबूझ कर उपेक्षा से काम लेते हैं, वे मनुष्य तो क्या, पशु भी कहलाने योग्य नहीं हैं; क्योंकि इतना तो पशु भी अनिवार्य रूप से करते देखे जाते हैं।

माता-पिता का दूसरा और महान कर्तव्य बालक की शैशवावस्था पार कर जाने के बाद आरंभ होता है। शैशवावस्था बालक की अबोध अवस्था है। उस समय प्यार और दुलार ही

उसके लिए पौष्टिक भोजन हैं। वह अवस्था जीवन का शिलान्यास है। उसे जितना ही स्नेह से सींचा जायगा, उतनी ही उसमें दृढ़ता आएगी और उसी कदर वह भावी जीवन के गुरुतर भार को वहन कर सकने योग्य हो सकेगा। शैशवावस्था की समाप्ति के साथ बालक की शिक्षा का प्रश्न उपस्थित होता है। यह पहला पत्थर है जो नींव के ऊपर तमाम बड़ी इमारत को सँभालने के लिए रक्खा जाता है। इसके लिए इंजिनीयरिंग की काफी शिक्षा की आवश्यकता होती है। ज़रा भी टेढ़ा तिरछा रह जाने से सारी इमारत सदोष रह जायगी। इस समय बालक की शिक्षा का निरीक्षण बड़ी सावधानी से करना होता है। न तो कठोर शिक्षा का गुरुतर बोझ ही उसके सुकुमार कंधों पर डालते बनता है, न उसे निर्द्वन्द्व छोड़कर अस्वाभाविक ढंग से जीवन को बुरे मार्ग पर ले जाने देना उचित होता है। उसके चरित्रगठन पर विशेष बल देते हुए उसे ऐसी हलकी और रुचिकर शिक्षा देनी होती है जिससे भावी गुरुतर शिक्षा की ओर उसके हृदय में अनुराग बढ़े। इस प्रकार जब गुरुतर शिक्षा के लिए बालक की तैयारी पूरी हो जाती है, तो उसके लिए उसका विधान करना भी माता-पिता का ही कर्तव्य है। यद्यपि इस समय शिक्षा देने का कार्य माता-पिता के कंधों से गुरु के कंधों पर स्थानान्तरित हो जाता है, पर प्रारंभिक-शिक्षण का संपूर्ण उत्तरदायित्व माता-पिता पर ही रहता है। तथा यह कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रारंभिक-शिक्षण ही अक्सर बालक के जीवन की भावी दिशा का रुख तय कर देता है। इसलिए माता-पिता को यह कर्तव्य बड़ी सावधानी और सतर्कता से पालन करना उचित है। ऐसा करने से माता-पिता न केवल अपने कर्तव्य को ही सच्चाई से पालन करते हैं, वरन् गुरु के कार्य को सरल कर

देते हैं। सुचारु रूप से प्रारंभिक शिक्षा पाया हुआ बालक कुम्हार की मिट्टी की भाँति कोमल और आदर्शग्राही होता है, उसे गुरु जैसा चाहता है थोड़े हो परिश्रम से बना लेता है। पर प्रारंभिक शिक्षण के अनियमित ढंग से होने पर बालक गुरु के हाथों में ग्रेनाइट के रूप में आता है और उसकी कठिनाई को बढ़ा देता है। गुरु उसे मनमाना रूप देने में समर्थ नहीं हो पाता। यद्यपि माध्यमिक और उच्च शिक्षण का विधान गुरु के जिम्मे रहता है, पर यह कर्तव्य माता-पिता का ही है कि वे अच्छे से अच्छे गुरु अथवा गुरुकुल को अपने बच्चे के लिए सुलभ बनाएँ। इसके अतिरिक्त शिक्षण काल में भी उसके शील सदाचार और सत्यनिष्ठा का ध्यान रखें।

आज के अधिकांश माता-पिता बच्चों को पैदा करना ही अपना एकमात्र कर्तव्य समझते हैं, और लड़के को स्कूल में भेजकर एकदम निश्चिन्त हो जाते हैं। शायद उनका विचार है कि स्कूल के अध्यापकों को सौंपकर बालक की शिक्षा-दीक्षा के कर्तव्य से वे एकदम मुक्त हो जाते हैं। ऐसे माता-पिता को यदि भविष्य में अपने बच्चों से हताश होना पड़े, कोई आश्चर्य की बात नहीं, यही तो उसका अनिवार्य परिणाम होना चाहिए। वास्तव में ऐसे लोगों को माँ-बाप बनने का अधिकार ही नहीं।

माता-पिता का बच्चे के प्रति अन्तिम कर्तव्य उसे गृहस्थाश्रम में प्रवेश करा देने का है, उसे उसका योग्य जीवन संगी चुन देने का है। यह कर्तव्य भी उपेक्षणीय नहीं है। इसमें बच्चे की रुचि का भी आदर करने की आवश्यकता है। इस अन्तिम कर्तव्य को जैसे-तैसे पूरा कर देने का परिणाम घर में कलह का बीजारोपण करना है। जिसका दुखद परिणाम आज जिस परिवार को भोगना नहीं पड़ रहा है, वह धन्य है।

अब हम संक्षेप में बालक के कर्तव्यों की मीमांसा करेंगे। आजकल वातावरण ऐसा बन रहा है, कि लोग कर्तव्यपालन को पराधीनता कहते हैं और उच्छृंखलता को स्वाधीनता नाम देते हैं। पर ध्यान रखना चाहिए कि यह वातावरण एकमात्र कार्बोनिक-एसिड गैस से बना है, जिसका विषैला और मारक प्रभाव स्वतः सत्य है। यह समाज और परिवार की रक्षा नहीं कर सकता। इसके लिए कर्तव्य के निश्चित पथ का अनुसरण ही उचित होगा।

भला ऐसा कौन होगा जो यह कहे कि जिन माता-पिता ने हमें जन्म दिया है, हमारा पालन-पोषण किया है, हमारी शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध किया है, हमें जीवन-पथ पर अग्रसर होने के योग्य बनाया है, आप कष्ट सहकर हमारे लिए सुखों की योजना की है, उनके प्रति हमारा क्या कर्तव्य हो सकता है? दुनियाँ का संचालन इस प्रकार की स्वार्थपरता से हो नहीं सकता। बालक भी उसी प्रकार कर्तव्यों से बद्ध है जिस प्रकार माता-पिता। बालक का पहला कर्तव्य है माता-पिता के प्रति आदरभाव रखना—उनके सामने विनय और शील की मूर्ति बने रहना। दूसरा कर्तव्य है उनका आज्ञावर्ती होना। तीसरा है उन्हें सुख पहुँचाने की प्राणपण से चेष्टा करना।

ये तीनों ऐसे कर्तव्य हैं जिनकी अवहेलना करने वाली संतान का मर जाना बेहतर समझा जाता है, और ऐसा समझना अनुचित भी नहीं है। भला सन्तान माता-पिता का ऋण चुका ही कहाँ तक सकती है? उनके प्रति आदर रखकर, उनके आदेशों को शिरोधार्य करके, उनके जरा-जर्जर शरीर के लिए अपने कुछ सुख-साधनों का त्याग करके क्या उन्हें पूरा बदला दिया जा सकता है? कदापि नहीं। पर सन्तान की असमर्थता का खयाल करके ही

उसके लिए हलके से हलके कर्तव्यों का विधान किया गया है। माता-पिता तो मरते दम तक स्वयं ही नहीं चाहते कि उनके लिए सुख-सामग्री का आयोजन करके सन्तान अपने आपको अभाव के समुद्र में छोड़ दे, पर सन्तान को अपना धर्म तथा अपना कर्तव्य समझना चाहिए। हाँ, कम से कम इतना हरएक माता-पिता का भाव रहता है कि हमारी सन्तान हमारा और हमारे विचारों का आदर करे। कारण कि माता-पिता के लिए सन्तान वयस्क हो जाने पर भी वात्सल्य की ही अधिकारिणी रहती है।

आदर्शवादी धर्म-शास्त्र सन्तान के लिए एक चौथे कर्तव्य का और विधान करते हैं, और वह यह है कि माता-पिता की इहलोक लीला समाप्त होने के बाद भी सन्तान उनके पवित्र नाम पर, उनकी पावन-स्मृति में, जब-तब अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करती रहे। हिन्दू इसे श्राद्ध कहते हैं। इस कर्तव्य का आशय माता-पिता के आदर्श की महानता घर-घर में सजीव रखने का है। यह कोई कुप्रथा नहीं है, कुरीति नहीं है, जबतक इसे कुरीति का भद्दा रूप न दे दिया जाय। हिन्दुओं की श्राद्ध-प्रथा ने आजकल कुरीति का ही रूप धारण कर लिया है और इसीसे यह प्रथा हीन दृष्टि से देखी जाती है। यह हमारा अपना दोष है, पर वास्तव में यह एक महान कर्तव्य की पवित्र पूर्ति है। यह समाज में आदर्श की प्रतिष्ठा करती है, सुख की गंगा का अवतारण करती रहती है। दुनियाँ की प्रायः प्रत्येक जाति इसको मानती है। कब्र पर फातिहा पढ़ने और फूल चढ़ाने वाले, मुस्लिम तथा इसाई भी एक प्रकार से हिन्दू धर्म-शास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट इस अन्तिम कर्तव्य का अनुसरण करते हैं, जो उचित ही है।

कुछ तार्किक निबन्धों के खाके

आगे विद्यार्थियों की सुविधा के लिए कुछ तार्किक निबन्धों के खाके दिए जाते हैं, जिनकी सहायता से विद्यार्थी स्वयं निबन्ध लिखने का अच्छा अभ्यास कर सकते हैं

हम मौत से क्यों डरें ?

मृत्यु एक अनिवार्य परिवर्तन है। जड़-चेतन सृष्टि इस परिवर्तन से मुक्त नहीं हो सकती। असफल, कर्मभीरु, कायर, मृत्यु से डरते हैं। कर्मवीर मृत्यु की परवाह नहीं करते। कर्तव्य ही उनका ध्येय रहता है।

कायर जीवन में अनेक बार मृत्यु की विभीषिका अनुभव करते हैं। कर्मवीर का केवल एक बार मृत्यु से साक्षात्कार होता है। महात्मा ईसा का उदाहरण।

मृत्यु ही जीवन है। बीज नष्ट होता है, तब वृक्ष पैदा होता है। यदि मृत्यु न होती ? बुढ़ापा, दुःख, रोग आदि से इतने छोटे जीवन को ही लोग भार समझते हैं। यदि मृत्यु न होती तो जीवन में इतना भी आनन्द न रह जाता। मृत्यु नूतनता की सृष्टि करती है—पुराने पत्ते न झड़ें तो वसन्त का आनन्द कहाँ ? सूर्य न डूबे तो प्रभात की छटा कहाँ ?

आत्मा कभी नहीं मरती—'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि' इत्यादि। भौतिक शरीर ही नष्ट होता है। नष्ट वास्तव में आकार (रूप) होता है, तत्त्व तत्त्व में मिल जाते हैं।

यह जानकर मृत्यु से कभी डरना नहीं चाहिये। मृत्यु के भय से कर्तव्य-पूर्ति में कमी नहीं करनी चाहिए। आत्मा के साथ धर्म अर्थात् कर्तव्य ही देते हैं।

घर में दीया जलाकर मस्जिद में जलाया जाता है

धर्म के दो रूप—सामान्य धर्म और विशेष धर्म। सामान्यधर्म के अनुसार समस्त विश्व का हम पर अधिकार है, और उसका हित-साधन हमारा कर्तव्य है। विशेषधर्म का तकाज़ा विशेष व्यक्ति और विशेष प्राणिसमुदाय के कल्याण-साधन के रूप में हम पर होता है। विशेषधर्म और सामान्यधर्म में परस्पर विरोध नहीं। प्रेम का आधार साहचर्य और परिचय है। माता-पिता, बन्धुबान्धव, स्वजाति, स्वदेश के साहचर्य और परिचय के कारण, स्वतःप्रेम होता है, पारस्परिक संबंध घनिष्ट होने से उनके प्रति हमारे कर्तव्य भी विशेष होते हैं। शेष जगत उनके साथ हमारी उदारता का सहभागी नहीं हो सकता, जब तक हमारी उसकी घनिष्टता वैसी ही न हो जाय। एक दुनियाँदार भलेआदमी से निकटतम संबंधी विशेषतम, निकटतर, संबंधी विशेषतर, निकट संबंधी विशेष इत्यादि इसी क्रम से, आशाएँ करें तो कोई अनुचित नहीं। मस्जिद पवित्र है, पर उसका तकाज़ा घर के बाद में। सर्वस्वत्यागी महात्माओं का यहाँ विचार नहीं, विशेषधर्म उनके लिए नहीं। विशेषधर्म से साधारणधर्म को बल, प्राप्त होता है। विशेषधर्म का ही व्यापक रूप साधारण धर्म। विशेषधर्म की उपेक्षा करके साधारण धर्म की अनुगामिता विडंबना। पहली सीढ़ी चढ़े बिना अंतिम सीढ़ी पर पहुँचना असंभव।

करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान

अभ्यास किसे कहते हैं? मनुष्य सर्वज्ञ नहीं है। बहुज्ञता या विशेषता भी आदमी के साथ नहीं पैदा होती। उन्हें प्रयास और अभ्यास से अर्जित करना पड़ता है। जन्म के समय बालक में इने-गिने संस्कार ही देखे जाते हैं। न बोल सकता है, न कुछ कर सकता है। बड़े होने पर वही दुनियाँ

का बड़े से बड़ा काम करता है, क्यों ? अभ्यास के कारण। खड़े होने चलने फिरने, बातचीत करने का अभ्यास करना पड़ता है। वक्ता को बोलने का अभ्यास चाहिये। लेखक को सोचने का अभ्यास चाहिए। कुली को बोझा सहने का अभ्यास चाहिए। योद्धा को तलवार चलाने का अभ्यास चाहिए। अभ्यास किसी काम में विशेषता संपादित करने के लिए मुख्य वस्तु है। मूर्ख कालिदास विद्याभ्यास से महाकवि हो गया। पूर्वजन्म के संस्कार भी कुछ होते हैं, पर मूलतः वे भी अभ्यास के ही फल हैं। उस जन्म का अभ्यास इस जन्म में संस्कार बन जाता है। अभ्यास से कठिन काम सरल हो जाता है। अभ्यास से 'जड़मति' के 'सुजान' होने में कोई संशय नहीं।

जिसकी जैसी भावना तिसकी तैसी सिद्धि

दुनियाँ दर्पण है, जैसा मुँह बनाओगे वैसा उसमें दिखाई देगा। साधु आचरण करने वाले को सच्चे साधुओं का सहयोग प्राप्त होता है। असाधु और कपटी के लिए दुनियाँ प्रपंच और छलमय है। अकबर को ही बीरबल और अबुलफ़ज़ल जैसे स्वामिभक्त मिलते हैं। औरंगज़ेब का शासन कुचक्रियों का शासन होता है। राम के भाई लक्ष्मण और भरत जैसे तथा रावण के विभीषण जैसे इसीलिए होते हैं। अपने आचरण को निर्मल बनाओ। निर्मल आचरण में बड़ी शक्ति है। उसका संसर्ग मलिन संसार को निर्मल बना देता है ? शान्त तपस्वियों के पास कौन से अस्त्र-शस्त्र होते हैं ? क्या हिंस्र पशु उनके तप को नहीं मानते ? मन की भावना पर ही प्रत्येक कार्य की सफलता निर्भर रहती है। संशययुक्त विचार लेकर कोई सफल नहीं हुआ। बालक ध्रुव की विचार-दृढ़ता का फल। प्रह्लाद की भावना में नृसिंह भावना का वास, फल के अनुरूप ही भाव और आचरण निर्माण करना चाहिए।

स्त्री-स्वातंत्र्य

स्वतन्त्रता किसे कहते हैं ? उसकी आवश्यकता। स्वतन्त्रता मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दता में भेद। पहली कल्याणकारी और दूसरी अकल्याणकर।

स्त्री और पुरुष। मनुष्य-समाज में स्त्रियों का स्थान। स्त्री और पुरुष की शारीरिक और मानसिक योग्यता की तुलना। स्त्रियों को भी स्वतन्त्र रहने का जन्मसिद्ध अधिकार है। स्त्रियों की पराधीनता के कारण। पुरुषवर्ग का स्त्री-समाज पर शासन। स्त्रियों के कानूनी अधिकार। स्त्रियों की शिक्षा-दीक्षा। अशिक्षा ही स्त्रियों की परवशता का बड़ा कारण। स्वाधीन स्त्री का कार्य-क्षेत्र। देश-विदेश में स्त्रियों के स्वाधीनता आन्दोलन का सिंहावलोकन। भारत में स्त्रियों की जाग्रति। वर्तमान पाश्चात्य नारी—वर्तमान भारतीय नारी। नारी-जाग्रति का भविष्य। स्वाधीन नारी और स्वाधीन पुरुष का भावी संसार।

अधजल गगरी छलकत जाय

परिपूर्ण में क्षुद्रता का त्याग, अपूर्णता में क्षुद्रता का प्रदर्शन देखा जाता है। तीन श्रेणी के लोग मिलते हैं अशिक्षित—अर्धशिक्षित और शिक्षित। अशिक्षित प्रायः अपने को ज्ञानवान मानने की भूल नहीं करते। शिक्षित अपनी अल्पज्ञता को मानते हैं और ज्ञान के महासागर की गहराई को अनुभव करते हैं। अर्धशिक्षित अपने थोड़े से ज्ञान को भी बहुत बड़ा समझ बैठते हैं। अर्धशिक्षा में अहम्मन्यता और वाचालता।

अर्धशिक्षा से मूर्खता का प्रकाशन और अपमान की प्राप्ति। अशिक्षा से

भ्रान्ति का प्रसार। कहा भी है Half knowledge is always dangerous संसार के लिए भी और अपने लिए भी। अर्धशिक्षा में उदारता की कमी और रूढ़ि-प्रेम। नवीनता के प्रति उपेक्षा।

अधजल गगरी के छलकने से उसका पूर्ण सादृश्य। परिपूर्णता की उपलब्धि का प्रयास ही इष्ट होना चाहिए। वही शोभनीय है।

ग़लती मनुष्य से ही होती है

मनुष्य सर्वज्ञ नहीं है। केवल सर्वज्ञ ही अभ्रान्त होने का दावा कर सकता है। मनुष्य से भूलें होनी स्वाभाविक हैं। भूलों के निराकरण में मनुष्य की बुद्धि का उपयोग होता है, वह परिमार्जित और प्रबुद्ध होती रहती है। गिर-गिर कर चलना ही सीखा जाता है। गलतियाँ कर के ही अनुभव की प्राप्ति होती है। गलतियों से डर कर अपनी कर्तृत्व-शीलता को शिथिल नहीं करना चाहिए। भूलों को भूल मानने का विनीतभाव आवश्यक है।—यही आत्मसुधार और आत्मोन्नति की अंतः-प्रेरणा का मूल है। भूलों को भूल न मानने की उद्दण्डता आत्मोन्नति के द्वार को बंद कर देती है। जीवन की परिपूर्णता सत्य की उपलब्धि में है। गलतियाँ सत्य की उपलब्धि को रोचक बनाती हैं। अनायास सत्य की प्राप्ति हो जाती तो उसका महत्त्व नहीं रहता।

तेते पाँव पसारिये जेती लाँबी सौर

अपनी शक्ति से बाहर काम नहीं करना चाहिए। शक्ति से बाहर काम करने का नतीजा। अपनी शक्ति का विचार करके काम शुरू करना दूरंदेशी का चिह्न। उसका परिणाम। क्या इससे प्रतिभावान की प्रतिभा का विकास रुक जायगा? कदापि नहीं। प्रतिभावान का कार्यक्षेत्र और उसकी सामर्थ्य का अन्दाजा उसकी प्रतिभा के लिहाज़ से ही होगा। यह नियम छोटे-बड़े, सशक्त-अशक्त सबके लिए अनुकरणीय।

इतिहास के अधिकांश पराभव और पतन इसी के विपरीत आचरण के फल हैं। उदाहरण—नैपोलियन का प्रयास, केसर का प्रयास आदि। निर्माण और उत्थान में सर्वत्र इस नियम का पालन देखा जाता है।

जीवन में पगपग पर व्यापार-व्यवसाय, रीति व्यवहार आदि में इसकी आवश्यकता। तरंग में आकर इसकी उपेक्षा करके अन्त में पश्चात्ताप की प्राप्ति होती है।

सबै सहायक सबल के, कोउ न निबल सहाय

प्रकृति भी सबल का पोषण करती है। दुनियाँ भी सबल की ओर झुकती है।

बल अथवा शक्ति की विशेषता लोगों को विस्मित और भयभीत कर देती है। पाशविक बल से लोग भयभीत होते हैं। आत्मबल और चरित्र-बल से लोग विस्मित होते हैं। भीरु कायरता के कारण सबल का साथ देते हैं। विस्मित श्रद्धा के कारण बलवान के अनुगामी होते हैं। इसी से लोग प्रबल तर्क को स्वीकार करते हैं। बड़े आदर्श को मानते हैं।

कायरतापूर्वक पशुबल का साथ देना अनुचित है। इससे 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' अंधेरे राज्य को प्रश्रय मिलता है, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का नाश होता है। आत्मबल और चरित्रबल को सहायता देना कुछ बुरा नहीं है। इससे अकल्याण की आशा नहीं है।

तुलसीदास और सूरदास

दोनों ही त्यागी महात्मा। दोनों ही महाकवि और भक्त। सूर कृष्ण भक्त। तुलसी राम-उपासक। सूर की भक्ति सख्यभाव को लिये हुए।

तुलसी की भक्ति सेव्य-सेवक भाव के अनुसार। सूर का उद्देश्य वात्सल्य और शृंगारवर्णन ही था। अतः इन्होंने बालक्रीड़ा और शृंगारक्रीड़ा का ही विशद वर्णन किया। तुलसी का उद्देश्य व्यापक था, उन्होंने जीवन-व्यापी विविध व्यापारों को अपने काव्य का आधार बनाया। सूर की प्रतिभा एकमुखी पर अपने क्षेत्र में अपरिमित अधिकार रखनेवाली। तुलसी की प्रतिभा सर्वतोमुखी, और सब ओर विलक्षण सफलता प्राप्त करने वाली। सूर में सांप्रदायिकता की विशेषता। तुलसी में उसका अभाव। तुलसी का अवधी और ब्रजभाषा पर समान अधिकार तथा विविध प्रकार की प्रचलित काव्य-रचना शैलियों का अपूर्व ज्ञान। सूर में इसका अभाव। भाव-मग्न रहनेवाले महाकवियों में सूरदास सर्वश्रेष्ठ। आसपास की परिस्थिति पर्यालोचन करनेवाले कवियों में तुलसी अनुपम। उद्देश्य भिन्नता के कारण, लौकिक उपयोगिता के विचार से, तुलसी का काव्य सूर की अपेक्षा अधिक पवित्र वातावरण उत्पन्न करनेवाला।

अभ्यास के लिए विषय

(१) कलम और तलवार। (२) संपत्ति और विपत्ति। (३) ग्राम्य-जीवन और नागरिक जीवन। (४) लोहा और लकड़ी। (५) नंगा रहना ही प्राकृतिक है। (६) कोयले की दलाली में हाथ काले। (७) इस हाथ दे उस हाथ ले। (८) नौ नकद न तेरह उधार। (९) जहाँ सुमति तहँ संपति नाना। (१०) दिया तले अँधेरा। (११) दरिद्रता ईश्वर की देन है। (१२) धर्म को आग लगाओ और ईश्वर को भट्टी में डालो। (१३) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा। (१४) किसान और सिपाही का जीवन। (१५) उपन्यास पढ़ना लाभदायक है। (१६) शेक्सपियर और कालिदास। (१७) मैथिली-

शरण और अयोध्यासिंह उपाध्याय। (१८) कौन अधिक पूजनीय है, माता या पृथ्वी ? (१९) भाग्य या पुरुषार्थ। (२०) स्त्री और पुरुष के कार्यक्षेत्र। (२१) सत्य सब काल में एकसा रहता है। (२२) खून सिर पर चढ़ कर बोलता है। (२३) छुआछूत अनुचित हैं। (२४) हिन्दू समाज और उसकी त्रुटियाँ (२५) छायावाद की समीक्षा। (२६) पर्दा-प्रथा का औचित्य। (२७) सहशिक्षा पर विचार। (२८) स्त्रियों को उच्च शिक्षा देनी चाहिए। (२९) कृष्ण ने अर्जुन को उचित उपदेश दिया था। (३०) पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है। (३१) चन्द्रमा का प्रकाश अपना नहीं है। (३२) हम सब आधा ही चन्द्रमा देखते हैं। (३३) क्या इतिहास मुर्दों की कहानी है ? (३४) विद्वान का जीवन मूल्यवान है या किसान का ? (३५) सुशासन के लिए राजा की आवश्यकता है या नहीं ? (३६) फूलों की सुगन्धि कीमती है या रूप-रंग ? (३७) खग जाने खग ही की भाषा। (३८) स्वदेश-प्रेम या विश्व प्रेम। (३९) प्रकाश या अन्धकार। (४०) चिमगादड़ पशु है या पक्षी ? (४१) जो चमकता है, वह सभी सोना नहीं होता। (४३) कौन आविष्कार बड़ा है, लिखना या पढ़ना। (४४) धूप अथवा छाया (४५) ... सुन्दर होती है या पुरुष ? (४६) श्रद्धा बड़ी है या तर्क। (४७) राम और रहीम में कोई भेद नहीं। (४८) स्वाधीनता प्रत्येक जाति का जन्मसिद्ध अधिकार है। (४९) मूर्तिपूजा का औचित्य। (५०) जैसी जाकी भावना तैसी ताकी सिद्धि।

लोकोक्तियाँ और मुहावरे

तीसरा संस्करण

ले०—डा० बहादुरचन्द्र शास्त्री एम. ए., एम.ओ. एल., डी. लिट्

हिन्दी में प्रचलित लोकोक्तियों और मुहावरों के भिन्न-भिन्न अर्थ तथा इनका अपनी भाषा में किस तरह प्रयोग किया जा सकता है यह जानने के लिए इस पुस्तक की एक प्रति अवश्य खरीदिए। अभी तक इस विषय की किसी पुस्तक में लोकोक्तियों या मुहावरों को अपनी भाषा में प्रयुक्त करके नहीं दिखाया गया। भारतीय स्कूलों की उच्च कक्षाओं के प्रत्येक विद्यार्थी तथा प्रयाग-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की 'प्रथमा' और 'मध्यमा' परीक्षा, पंजाब-यूनीवर्सिटी की 'हिन्दी-रत्न' और 'हिन्दी-भूषण' परीक्षा और वर्नाक्युलर बोर्ड की 'वर्नाक्युलर टीचर्स' और 'एडवांस' परीक्षाओं के प्रत्येक परीक्षार्थी के पास इसकी एक प्रति अवश्य होनी चाहिए। १६६ पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य ||) मात्र।